वार्षिक रु. २००, मूल्य रु. २०

ISSN 2582-0656

विवेक ज्योति

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम रायपुर (छ.ग.)

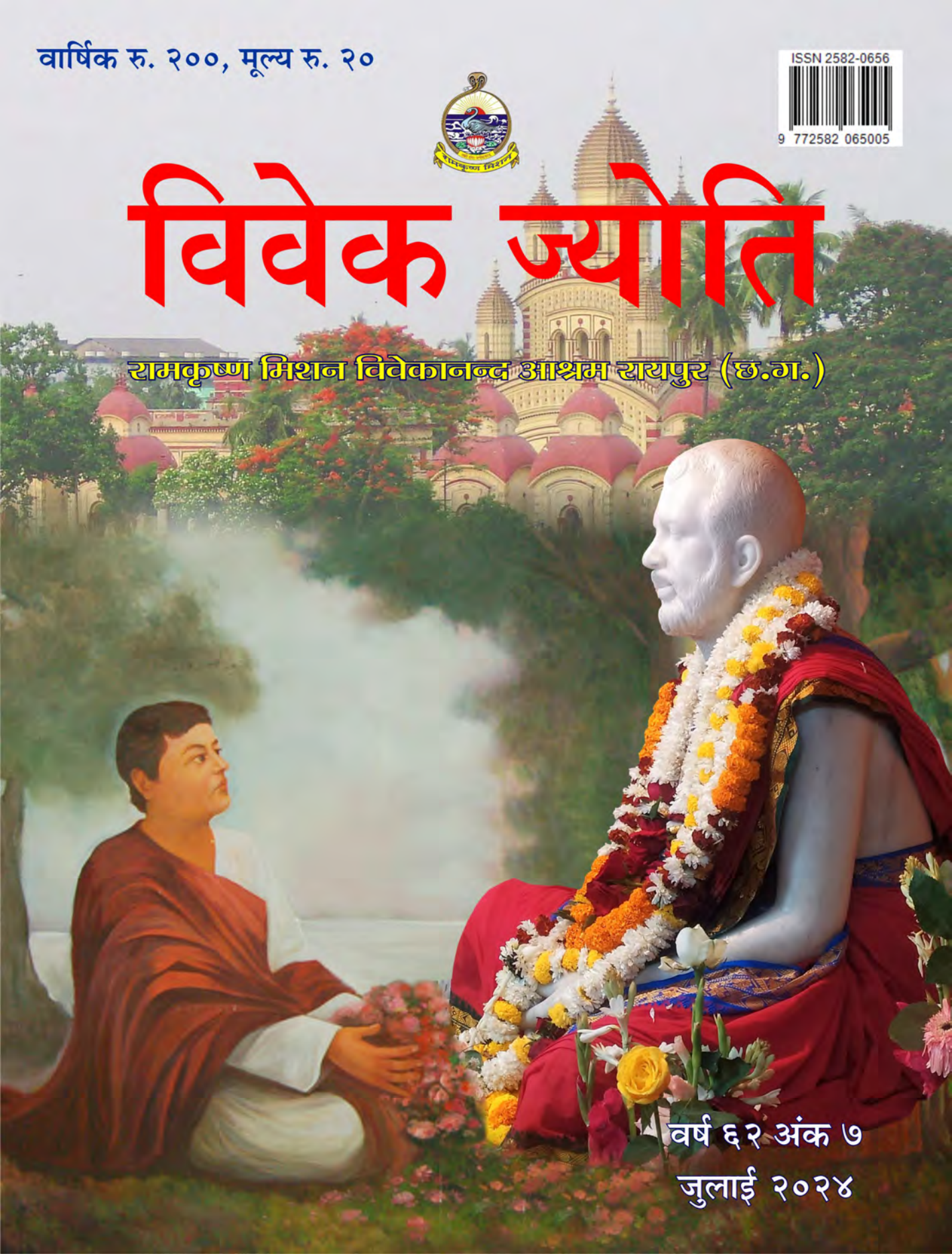

वर्ष ६२ अंक ७
जुलाई २०२४

* आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च *

वर्ष ६२

अंक ७

विवेक-ज्योति

हिन्दी मासिक

प्रबन्ध सम्पादक
स्वामी अव्ययात्मानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी स्थिरानन्द

सम्पादक
स्वामी प्रपत्त्यानन्द

सह-सम्पादक
स्वामी पद्माक्षानन्द

आषाढ़, सम्वत् २०८१

जुलाई, २०२४

अनुक्रमणिका

* महापुरुषों के सत्संग से सम्पूर्ण जीवन बदल जायेगा : विवेकानन्द २९४
* गुरु की ऊर्जा सूर्य-सी (डॉ. जया सिंह) २९८
* भगवान जगन्नाथ और उनकी ब्रह्मवस्तु (डॉ. अन्वय मुखोपाध्याय) ३००
* भारत के मन्दिर और उनकी संरचना (रीता घोष) ३०७
* हमारा सबकुछ ठाकुर का है, अपना कुछ भी नहीं (स्वामी सत्यरूपानन्द) ३१४
* (बच्चों का आंगन) गुरु-शिष्य परम्परा : शिक्षा ग्रहण करने की पवित्र परम्परा (श्रीमती मिताली सिंह) ३१५
* (युवा प्रांगण) जो जैसा बोएगा, वैसा ही काटेगा (स्वामी गुणदानन्द) ३१८
* श्रीराम और श्रीरामकृष्ण (स्वामी निखिलात्मानन्द) ३२१
* कलियुग के दोष और उनसे बचने के उपाय (राजकुमार गुप्ता) ३२५
* (कविता) करूँ वन्दना गुरु की निसदिन (डॉ. ओमप्रकाश वर्मा) ३१३
* (कविता) दक्षिणेश्वर लीला-चिन्तन (रामकुमार गौड़) ३१७
* (कविता) श्रीरामकृष्णार्चनम् (डॉ. अनिल कुमार 'फतेहपुरी') ३२९

शृंखलाएँ

मंगलाचरण (स्तोत्र) २९३
पुरखों की थाती २९३
सम्पादकीय २९५
रामगीता ३०४
प्रश्नोपनिषद् ३१६
श्रीरामकृष्ण-गीता ३२०
गीतातत्त्व-चिन्तन ३२७
साधुओं के पावन प्रसंग ३३०
समाचार और सूचनाएँ ३३४

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ***०९८२७१ ९७५३५*** (फोन करने का समय केवल सुबह १० से १२)
ई-मेल : **vivekjyotirkmraipur@gmail.com,** वेबसाइट : ***www.rkmraipur.org***
आश्रम कार्यालय : ०७७१ – २२२५२६९, ४०३६९५९ (समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)
रविवार एवं अन्य अवकाश को छोड़कर

ISSN 2582-0656

विवेक-ज्योति के सदस्य कैसे बनें

भारत में	वार्षिक	५ वर्षों के लिए	१० वर्षों के लिए
एक प्रति २०/-	२००/-	१०००/-	२०००/-
विदेशों में (हवाई डाक से)	६० यू.एस. डॉलर	३०० यू.एस. डॉलर	
संस्थाओं के लिए	२५०/-	१२५०/-	
भारत में रजिस्टर्ड पोस्ट से माँगने का शुल्क प्रति अंक अतिरिक्त ३०/- देय होगा।			

* सदस्यता-शुल्क की राशि इलेक्ट्रॉनिक या साधारण मनिआर्डर से भेजें अथवा **ऐट पार** चेक – **'रामकृष्ण मिशन'** (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाकर रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम रायपुर (छ.ग.) ४९२००१ के नाम स्पीड पोस्ट से भेज दें अथवा निम्नलिखित खाते में सीधे जमा करायें :

बैंक का नाम : सेन्ट्रल बैंक ऑफ इंडिया
अकाउण्ट का नाम : रामकृष्ण मिशन, रायपुर
शाखा का नाम : विवेकानन्द आश्रम,रायपुर,छ.ग.
अकाउण्ट नम्बर : 1385116124
IFSC : CBIN0280804

जुलाई माह के जयन्ती और त्यौहार

०७ जगन्नाथ पुरी रथयात्रा
२१ गुरु पूर्णिमा
२,१७,३१ एकादशी

विवेक-ज्योति कोष/स्थायी कोष

दान दाता	दान-राशि
श्री राकेश शर्मा, सुन्दर नगर, रायपुर (छ.ग.)	२,०००/-
श्री अनुराग प्रसाद, कौशाम्बी, गाजियाबाद (उ.प्र.)	९,००१/-

विवेक-ज्योति के सदस्य बनाएँ

प्रिय मित्र,

युगावतार श्रीरामकृष्ण और विश्ववन्द्य आचार्य स्वामी विवेकानन्द के आविर्भाव से विश्व-इतिहास के एक अभिनव युग का सूत्रपात हुआ है। इससे गत एक शताब्दी से भारतीय जन-जीवन की प्रत्येक विधा में एक नव-जीवन का संचार हो रहा है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, शंकराचार्य, चैतन्य, नानक तथा रामकृष्ण-विवेकानन्द, आदि कालजयी विभूतियों के जीवन और कार्य अल्पकालिक होते हुए भी शाश्वत प्रभावकारी एवं प्रेरक होते हैं और सहस्त्रों वर्षों तक कोटि-कोटि लोगों की आस्था, श्रद्धा तथा प्रेरणा के केन्द्र-बिन्दु बनकर विश्व का असीम कल्याण करते हैं। श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा नित्य उत्तरोत्तर व्यापक होती हुई, भारतवर्ष सहित सम्पूर्ण विश्ववासियों में परस्पर सद्भाव को अनुप्राणित कर रही है।

भारत की सनातन वैदिक परम्परा, मध्यकालीन हिन्दू संस्कृति तथा श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के सार्वजनीन उदार सन्देश का प्रचार-प्रसार करने के लिए स्वामीजी के जन्म-शताब्दी वर्ष १९६३ ई. से 'विवेक-ज्योति' पत्रिका को त्रैमासिक रूप में आरम्भ किया गया था, जो १९९९ से मासिक होकर गत ६१ वर्षों से निरन्तर प्रज्वलित रहकर भारत के कोने-कोने में बिखरे अपने सहस्त्रों प्रेमियों का हृदय आलोकित करती आ रही है। आज के संक्रमण-काल में, जब असहिष्णुता तथा कट्टरतावाद की आसुरी शक्तियाँ सुरसा के समान अपने मुख फैलाए पूरी विश्व-सभ्यता को निगल जाने के लिए आतुर हैं, इस 'युगधर्म' के प्रचार रूपी पुण्यकार्य में सहयोगी होकर इसे घर-घर पहुँचाने में क्या आप भी हमारा हाथ नहीं बँटायेंगे? आपसे हमारा हार्दिक अनुरोध है कि कम-से-कम पाँच नये सदस्यों को 'विवेक-ज्योति' परिवार में सम्मिलित कराने का संकल्प आप अवश्य लें। **– व्यवस्थापक**

आवरण-पृष्ठ के सम्बन्ध में

आवरण पृष्ठ पर स्वामी विवेकानन्द को अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण देव के पादपद्मों में पुष्पांजलि देते हुए दर्शाया गया है।

'vivek jyoti hindi monthly magazine' के नाम से अब विवेक-ज्योति पत्रिका यू-ट्यूब चैनल पर सुनें

विवेक-ज्योति के अंक ऑनलाइन निःशुल्क पढ़ें : www.rkmraipur.org

क्रमांक विवेक ज्योति पुस्तकालय योजना के सहयोग कर्ता	प्राप्त-कर्ता (पुस्तकालय/संस्थान)
७२३. श्री सुयश ठाकुर, कुशालपुर चौक, रायपुर (छ.ग.)	लाईब्रेरी, बी.एम. श्री जवाहर नवोदय विद्यालय, राजनांदगाँव (छ.ग.)
७२४. श्री राकेश शर्मा, सुन्दर नगर, रायपुर (छ.ग.)	प्राचार्य, होली हार्ट स्कूल, कबीर नगर, रायपुर (छ.ग.)

स्वामी गौतमानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के नये संघाध्यक्ष हुये

परम श्रद्धेय स्वामी गौतमानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के संघाध्यक्ष के रूप में निर्वाचित हुए। बेलूड़ मठ में २४ अप्रैल, २०२४ को आयोजित रामकृष्ण मठ की न्यासी बोर्ड और रामकृष्ण मिशन की संचालन समिति की बैठक में यह निर्णय लिया गया। पूजनीय महाराज जी रामकृष्ण संघ के १७वें संघाध्यक्ष हैं। २६ मार्च, २०२४ को स्वामी स्मरणानन्द जी महाराज महासमाधि में लीन हुए। उनके स्थान पर श्रद्धेय स्वामी गौतमानन्द जी महाराज को पद-भार सौंपा गया।

स्वामी गौतमानन्द जी महाराज का जन्म १९२९ में बेंगलुरु में हुआ था, किन्तु उनके पूर्वज केतंडपट्टी, तमिलनाडु से थे। अपनी युवावस्था में वे रामकृष्ण संघ के तत्कालीन सह-संघाध्यक्ष एवं बेंगलुरु मठ के तत्कालीन अध्यक्ष स्वामी यतीश्वरानन्द जी महाराज (१८८९-१९६६) के सम्पर्क में आए। उन्होंने १९५५ में स्वामी यतीश्वरानन्द जी महाराज से मंत्र-दीक्षा प्राप्त की। अगले वर्ष वे अपने गुरु के निर्देशानुसार रामकृष्ण संघ के नई दिल्ली के केन्द्र में सम्मिलित हुए। रामकृष्ण मिशन, दिल्ली में छह वर्ष उन्होंने विभिन्न विभागों में अपनी सेवाएँ प्रदान कीं।

१९६२ में उन्होंने स्वामी विशुद्धानन्द जी महाराज से ब्रह्मचर्य-दीक्षा प्राप्त की और १९६६ में रामकृष्ण संघ के दशम संघाध्यक्ष स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महाराज से संन्यास-दीक्षा प्राप्त की। १९६४ में उन्हें दिल्ली से सोहरा (पूर्व में चेरापूँजी) आश्रम में सेवा हेतु भेजा गया। इसके कुछ वर्षों पश्चात् उनका मुम्बई आश्रम में स्थानान्तरण हुआ। इन दोनों शाखा-केन्द्रों में उन्होंने लगभग १२ वर्षों तक सेवा की। तत्पश्चात् उन्हें १९७६ में अरुणाचल प्रदेश के सुदूर आदिवासी गाँव आलो (पूर्व में अलोंग) मिशन केन्द्र के सचिव के रूप में भेजा गया। उन्होंने आदिवासी बच्चों की शिक्षा के विकास हेतु हेतु १३ वर्षों तक वहाँ सेवाएँ प्रदान कीं। उनके नेतृत्व में आलो केन्द्र ने राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति अर्जित की और अनेक नई ऊँचाईयों को प्राप्त किया। परवर्तीकाल में वे अल्प समय के लिए छत्तीसगढ़ स्थित रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर और रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर के भी सचिव थे। इसके अलावा लगभग तीन वर्ष वे बेलूड़ मठ के निकटवर्ती सारदापीठ केन्द्र के भी सचिव थे।

१९९५ में उन्होंने रामकृष्ण मठ, चेन्नई के अध्यक्ष का उत्तरदायित्व ग्रहण किया। लगभग ३० वर्षों तक उन्होंने रामकृष्ण संघ के इस महत्त्वपूर्ण केन्द्र का पद-भार वहन किया। उनके नेतृत्व में चेन्नई मठ के सेवा कार्यों का अद्‌भुत विस्तार हुआ। इसके अतिरिक्त उन्होंने तमिलनाडु स्थित रामकृष्ण विवेकानन्द भावप्रचार परिषद के अन्तर्गत विभिन्न आश्रमों को मार्गदर्शन कर उनकी अनेक प्रकार से सहायता की। उनकी प्रेरणा से पुडुचेरी (केन्द्रशासित प्रदेश), कडप्पा और तिरूपति (आन्ध्र प्रदेश), चेंगम, तंजोर, थिरुमुक्कुडल और विल्लुपुरम (तमिलनाडु) स्थानों में मठ और मिशन के नए शाखा-केन्द्र स्थापित हुए।

रामकृष्ण मठ के न्यासी बोर्ड के अनुमोदन पर २०१२ से स्वामी गौतमानन्द जी महाराज मन्त्र-दीक्षा प्रदान करने लगे। कुछ वर्षों पश्चात् २०१७ में उन्हें रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के सह-संघाध्यक्ष के रूप में चयनित किया गया।

दीक्षा गुरु और सह-संघाध्यक्ष के रूप में पूज्य स्वामी गौतमानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मठ और मिशन के विभिन्न शाखा-केन्द्रों में यात्राएँ की। विदेश में स्थित विभिन्न आश्रमों में भेंट/यात्रा कर उन्होंने अनेक लोगों में रामकृष्ण भावधारा का प्रचार किया। दीक्षा-गुरु के रूप में उन्होंने अनेक इच्छुक आध्यात्मिक साधकों को मन्त्र-दीक्षा प्रदान की। अपनी यात्राओं के द्वारा उन्होंने बड़ी संख्या में लोगों में श्रीरामकृष्ण देव, श्रीमाँ सारदा देवी, स्वामी विवेकानन्द और वेदान्त के सन्देश का प्रचार करने का प्रयास किया। उन्होंने रामकृष्ण संघ की विभिन्न पत्रिकाओं में कई लेख भी लिखे। इतनी अधिक आयु में उनकी शारीरिक स्वस्थता, मानसिक सजगता और प्रसन्न स्वभाव सचमुच युवा पीढ़ी के लिये प्रेरणास्वरूप है।

सुदर्शन सोलार...
ऊर्जा अपरंपार !

आधुनिक भारत की बिजली की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए हमारे पास पर्याप्त मात्रा में सौर ऊर्जा उपलब्ध है। प्राकृतिक रुप से उपलब्ध इस स्त्रोत का प्रतिदिन की अपनी आवश्यकताओं के लिये उपयोग करके, अपने बिजली के बिल में भारी पैमाने पर कटौती कर, हम अपने देश को बिजली के निर्माण में आत्मनिर्भर बनाने में सहायता कर सकते हैं।

इस सुन्दर भूमि को सदा हरी-भरी रखने के लिये अपना साथी

भारत का विश्वसनीय सौर ऊर्जा ब्रांड - 'सुदर्शन सौर'!

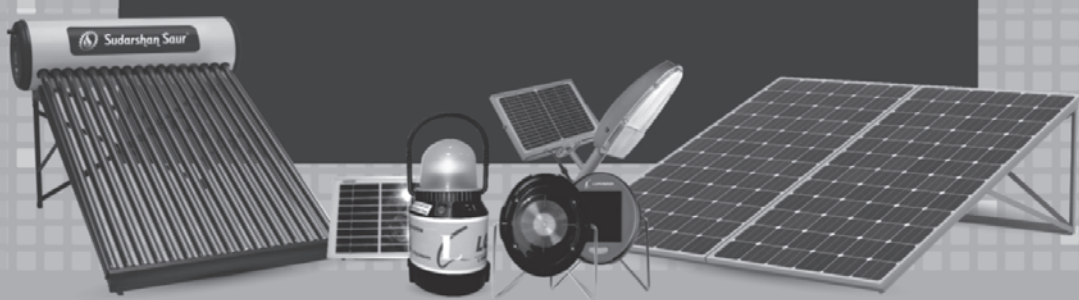

सोलर वॉटर हीटर
24 घंटे गरम पानी के लिए

सोलर लाइटिंग्स
ग्रामीण क्षेत्र में घरेलू उपयोग के लिए

सोलार इलेक्ट्रिसिटी सिस्टम
रुफटॉप सोलार
बिजली उत्पन्न करने के लिए

घर, बंगलोज, हॉस्पिटल्स, हॉटेल्स, इंडस्ट्रीज, कमर्शिअल कॉम्प्लेक्स, इन्स्टिट्यूट्स के लिए उपयुक्त

समझदारी की सोच!

३० साल का प्रदीर्घ अनुभव!

आजीवन सेवा — लाखां संतुष्ट ग्राहक — विस्तृत डीलर नेटवर्क

Sudarshan Saur®

www.sudarshansaur.com | Toll Free 1800 233 4545 | E-mail: office@sudarshansaur.com

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

वर्ष ६२ **जुलाई २०२४** **अंक ७**

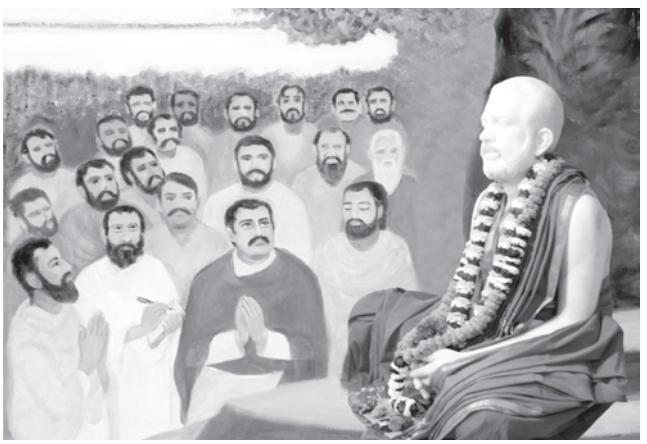

गुरूणां गुरुं भावये रामकृष्णम्

सदाकारमोंकार मन्त्रैकसारं
सदा निर्विकारं चिदानन्दपूरम् ।
अणोरप्यणुं सर्वधीसाक्षिभूतं
गुरूणां गुरुं भावये रामकृष्णम् ।।

– जो सत्स्वरूप हैं, ओंकार मन्त्र के एक मात्र सार हैं, सर्वदा निर्विकार हैं, चैतन्य और आनन्द से परिपूर्ण हैं, अणु से भी अणुतर हैं (अणु के भी अणु हैं), सभी बुद्धियों के साक्षीस्वरूप एवं गुरुओं के भी गुरु हैं, उन्हीं श्रीरामकृष्ण देव का मैं चिन्तन करता हूँ।

पुरखों की थाती

यथा खनित्वा खनित्रेण भूतले वारि विन्दति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति।।८३६।।

– जैसे कुदाल से जमीन को खोदकर जल को प्राप्त कर लेता है, वैसे ही आचार्य की सेवा-सुश्रुषा करनेवाला छात्र उनसे विद्या पा लेता है।

यदाचरति कल्याणि ! शुभं वा यदि वाऽशुभम्।
तदेव लभते भद्रे, कर्ता कर्मजमात्मनः।।८३७।।

(वाल्मीकि)

– मनुष्य अच्छे या बुरे जैसे भी कर्म करता है, उसे उनके वैसे ही फल प्राप्त होते हैं। कर्त्ता को अपने कर्म का फल अवश्य मिलता है।

यद्यत् परवशं कर्म तत्तद् यत्नेन वर्जयेत्।
यद्यदात्मवशं तु स्यात् तत्तत् सेवेत यत्नतः।।८३८।।

– जो-जो कार्य दूसरों के भरोसे करना पड़े, उन-उन कार्यों को यत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिए। जो-जो कार्य स्वयं ही सम्पन्न किये जा सकते हैं, उन्हें यत्नपूर्वक कर लेना चाहिए।

महापुरुषों के सत्संग से सम्पूर्ण जीवन बदल जायेगा : विवेकानन्द

भगवान की कृपा अथवा उनकी योग्यतम सन्तान महापुरुषों की कृपा प्राप्त कर लो। ये ही दो भगवत्प्राप्ति के प्रधान उपाय हैं। ऐसे महापुरुषों का संग-लाभ होना बहुत ही कठिन है, पाँच मिनट भी उनका ठीक-ठीक संग-लाभ हो जाय, तो सारा जीवन ही बदल जाता है। यदि तुम इन महापुरुषों की संगति के सचमुच इच्छुक हो तो तुम्हें किसी न किसी महापुरुष का संगलाभ अवश्य होगा। ये भक्त, ये महापुरुष जहाँ रहते हैं, वह स्थान पवित्र हो जाता है, 'प्रभु की सन्तानों का ऐसा ही माहात्म्य है।'' वे स्वयं प्रभु हैं, वे जो कहते हैं वही शास्त्र हो जाता है। ऐसा है उनका माहात्म्य! वे जिस स्थान पर निवास करते हैं, वह उनके देह निःसृत पवित्र शक्ति-स्पन्दन से परिपूर्ण हो जाता है। जो कोई उस स्थान पर जाता है, वही उस स्पन्दन का अनुभव करता है और इसी कारण उसके भीतर भी पवित्र बनने की प्रवृत्ति जग उठती है। (७/१६)

इस शक्ति की प्राप्ति तो एक आत्मा एक दूसरी आत्मा से ही कर सकती है – अन्य किसी से नहीं। हम भले ही सारा जीवन पुस्तकों का अध्ययन करते रहें और बड़े बौद्धिक हो जायें, पर अन्त में हम देखेंगे कि हमारी तनिक भी आध्यात्मिक उन्नति नहीं हुई है। यह बात सत्य नहीं कि उच्च स्तर के बौद्धिक विकास के साथ-साथ मनुष्य के आध्यात्मिक पक्ष की भी उतनी ही उन्नति होगी।

यद्यपि लगभग हम सब आध्यात्मिक विषयों पर बड़ी पाण्डित्यपूर्ण बातें कर सकते हैं, पर जब उन बातों को कार्य रूप में परिणत करने का – यथार्थ आध्यात्मिक जीवन बिताने का अवसर आता है, तो हम अपने को सर्वथा अयोग्य पाते हैं। जीवात्मा की शक्ति को जाग्रत करने के लिए किसी दूसरी आत्मा से ही शक्ति का संचार होना चाहिए।

यदि किसी एक भी व्यक्ति में ब्रह्म का विकास हो गया, तो सहस्त्रों मनुष्य उसी ज्योति के मार्ग से आगे बढ़ते हैं। ब्रह्मज्ञ पुरुष ही लोक-गुरु बन सकते हैं, यह बात शास्त्र और युक्ति दोनों से प्रमाणित होती है। (६/२२-२३)

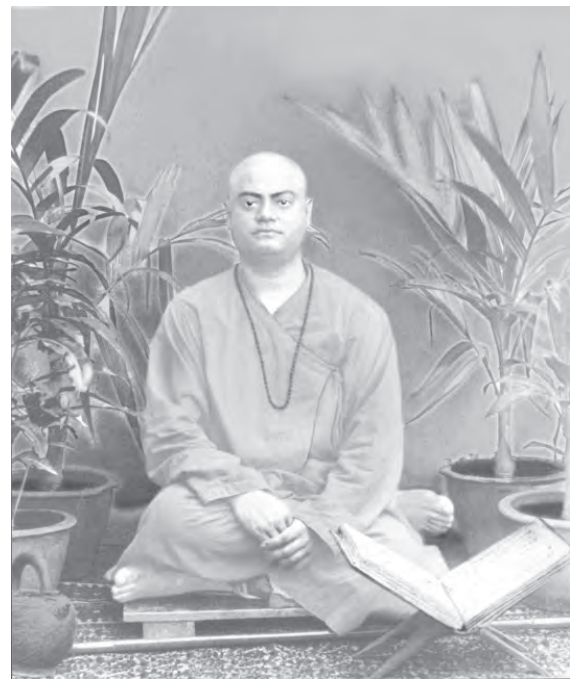

फिर, शक्ति संचारक गुरु के सम्बन्ध में तो और भी बड़े खतरों की सम्भावना है। बहुत से लोग ऐसे हैं, जो स्वयं तो बड़े अज्ञानी हैं, परन्तु फिर भी अहंकारवश अपने को सर्वज्ञ समझते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि दूसरों को भी अपने कंधों पर ले जाने को तैयार रहते हैं। इस प्रकार अन्धा अन्धे का अगुवा बन जाता है, फलतः दोनों ही गड्ढे में गिर पड़ते हैं।

आध्यात्मिक गुरु के द्वारा संप्रेषित जो ज्ञान आत्मा को प्राप्त होता है, उससे उच्चतर एवं पवित्र वस्तु और कुछ नहीं है। यदि मनुष्य पूर्ण योगी हो चुका है, तो वह स्वतः ही उसे प्राप्त हो जाता है, किन्तु पुस्तकों द्वारा उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। तुम जगत के चारों कोनों में – हिमालय, आल्प्स, काकेशस पर्वत अथवा गोबी या सहारा की मरुभूमि या समुद्र की तली में जाकर अपना सिर पटको, पर बिना गुरु मिले तुम्हें वह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। (९/२८-२९)

सम्पादकीय

श्रीरामकृष्ण द्वारा अनुमोदित नारदीय भक्ति

नाम-गुण कीर्तन करो : संकीर्तन करो

श्रीरामकृष्ण (संकीर्तन करनेवालों से) कहते हैं – ''रुपये के लिये जिस प्रकार देह से पसीना बहाते हो, उसी तरह उनका नाम लेकर नाच-कूद कर पसीना बहाना चाहिये।''[१२]

नारदजी कहते हैं – **अव्यावृत-भजनात्।।**[१३] – अखण्ड भजन से भगवद्-भक्ति की प्राप्ति होती है। एक बार एक भक्त ने श्रीरामकृष्ण से पूछा –

पड़ोसी – हम पापी हैं, हमारा क्या होगा?

श्रीरामकृष्ण – ''उनका नाम-गुणगान करने से देह से सब पाप भाग जाते हैं। देह रूपी वृक्ष पर पाप-पक्षी बैठे हुये हैं, उनका नाम-कीर्तन करना मानो ताली बजाना है। ताली बजाने से जिस प्रकार वृक्ष के ऊपर के सभी पक्षी भाग जाते हैं, उसी प्रकार उनके नाम-गुण कीर्तन से सभी पाप भाग जाते हैं।'' श्रीमद्भागवत में व्यासजी कहते हैं, नाम-संकीर्तन सभी पापों को नष्ट कर देता है। प्रणाम दुख-शमन करता है –

नामसंकीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनंतं नमामि हरिं परम्।।

भगवान के नामगुण-कीर्तन में बड़ी शक्ति है। भक्तिभाव से एकाग्रतापूर्वक भगवन्नाम के गायन से भक्त सद्यः ईश्वरीय सत्ता में तन्मयता का बोध करता है। भगवान के नाम का संगीतमय कीर्तन ईश्वरीय सत्ता की सरसता और भावलयता के आस्वादन में सहायक होता है। भगवन्नाम संकीर्तन से सामान्य लोग भी भगवान के नाम-रसामृत का आस्वादन कर धन्य होते हैं। इसलिये नारदजी कहते हैं – **सर्वथा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः।।**[१४] – सर्वदा सब प्रकार से निश्चिन्त होकर भगवान का भजन करना चाहिये।

एकान्तवास करो, निर्जन में ईश्वर का स्मरण करो

गृहस्थी के कार्यों में अत्यधिक संयुक्त रहने के कारण घर में साधना नहीं हो पाती, ईश्वर का स्मरण नहीं हो पाता। भक्त ईश्वर-दर्शन के आनन्द से वंचित हो जाता है। तब उपाय क्या है? एक बार मास्टर महाशय ने श्रीरामकृष्ण से पूछा – ''क्या ईश्वर के दर्शन हो सकते हैं?'' श्रीरामकृष्ण ने कहा – ''हाँ, हो सकते हैं। बीच-बीच में एकान्तवास, उनका नाम गुण-गान और वस्तु-विचार करने से ईश्वर के दर्शन होते हैं।''

इस संसार में माया से बचने का क्या उपाय है? कैसे इस भुवनविमोहिनी माया से बचकर भगवान से संयुक्त हुआ जाये? इस सम्बन्ध में नारदजी कहते हैं –

कस्तरति कस्तरति मायां यः संगास्त्यजति यो
महानुभावं सेवते, निर्ममो भवति।।
यो विविक्तस्थानं सेवते, यो लोकबन्धमुन्मूलयति,
निस्त्रैगुण्यो भवति, योगक्षेमं त्यजति।।[१५]

– माया से कौन तरता है? जो आसक्ति का त्याग करता है, जो महापुरुषों का संग करता है, जो निर्मोही होता है, जो एकान्त स्थान का सेवन करता है, जो सांसारिक बन्धनों का उच्छेद करता है, जो त्रिगुणातीत होता है, जो योग-क्षेम का त्याग करता है।

परमात्मा से भक्ति और उनकी कृपा के लिये प्रार्थना

प्रार्थना में बड़ी शक्ति होती है। एकाग्रता से अपने शब्दों में भक्तिपूर्वक की गयी प्रार्थना कभी निष्फल नहीं होती। श्रीरामकृष्ण बार-बार माँ से प्रार्थना करते हुये दृष्टिगोचर होते हैं। वे कहते हैं – माँ मुझे शुद्धा भक्ति दो।...

भगवान की कृपा कैसे होगी?

कृपा में कृ धातु है, जिसका अर्थ है, करना और पा अर्थात् प्राप्त करना। अर्थात् करो और प्राप्त करो। प्रयत्न, पुरुषार्थ करो और प्राप्त करो। कैसा प्रयास करें? एक बार जयगोपाल ने श्रीरामकृष्ण से पूछा – उनकी (भगवान की) कृपा कैसे होती है? श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं – ''उनके नाम और गुणों का कीर्तन करना चाहिये, जहाँ तक सम्भव हो, सांसारिक चिन्तन का त्याग करना चाहिये। चित्त शुद्ध हो जाने पर, विषय-भोग की आसक्ति दूर हो जाने पर व्याकुलता आयेगी। तुम्हारी प्रार्थना ईश्वर के पास पहुँचेगी।''[१६]

ईश्वर से प्रेम करो – हम सांसारिक नाशवान वस्तुओं से अपने क्षणिक सुख के लिये उससे बहुत प्रेम करते हैं, उसके लिये दिन-रात अथक श्रम और सब कुछ करते हैं, लेकिन अपने प्रेमास्पद भगवान से जैसा प्रेम करना चाहिये,

वैसा प्रेम नहीं करते। वास्तव में भगवान ही हमारे अपने हैं। हमें अपने स्वजन, अत्यन्त आत्मीय के समान भगवान से प्रेम करना चाहिये। ईश्वर अनिर्वचनीय है, वैसे ही प्रेम भी अनिर्वचनीय होता है। नारदजी कहते हैं – **अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।।**[१७] – 'प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय होता है।' प्रेम बड़ा विलक्षण होता है। इसलिये मीरा कहती हैं – **प्रेम भक्ति के पथ हैं न्यारो हमको गैल बता जा।** ऐसे दिव्य प्रेम को प्राप्त कर भक्त विभोर हो जाता है। नारदजी कहते हैं – **तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव श्रृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति।।**[१८] – 'इस प्रेम को पाकर प्रेमीभक्त इस प्रेम को ही देखता है, प्रेम को ही सुनता है, प्रेम का ही वर्णन करता है और प्रेम का ही चिन्तन करता है।' इसलिये श्रीरामकृष्ण कहते हैं – ईश्वर से प्रेम करो।

भगवान से प्रेम कैसे करें? प्रेम कैसा हो? – भगवान श्रीरामकृष्ण कहते हैं – ''विषय पर विषयी की, पुत्र पर माता की और पति पर सती की, ये तीन प्रकार की चाह एकत्रित होकर जब ईश्वर की ओर मुड़ती है, तभी ईश्वर मिलते हैं।

''ईश्वर को प्रेम करना चाहिये। **विषय** पर विषयी की, **पुत्र पर माता** की और **पति पर सती** की जो प्रीति है, उसे एकत्रित करने से जितनी प्रीति होती है, उतनी ही प्रीति से ईश्वर को बुलाने से उस प्रेम का महा आकर्षण ईश्वर को खींच लाता है।''[१९] नि:स्वार्थभाव से भगवान से प्रेम करना श्रेयस्कर होता है। अत: स्वार्थरहित होकर भगवान की प्रसन्नता के लिये भगवान के सान्निध्य हेतु भगवान से प्रेम करें।

भगवान के नाम का जप करें – भक्त को सतत भगवान के नाम का जप करना चाहिये। मन लगे या न लगे, किन्तु निरन्तर भगवान का जप करने से भक्त का मंगल ही होता है। गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं –

भाव कुभाव अनख आलसहूँ।
नाम जपत मंगल दिसि चसहूँ।।

एक बार श्रीरामकृष्ण देव से मुखर्जी बाबू ने पूछा – अच्छा महाराज, जप करना अच्छा है क्या? श्रीरामकृष्ण – हाँ, जप से ईश्वर मिलते हैं। एकान्त में उनका नाम जपते रहने से उनकी कृपा होती है, इसके पश्चात् है दर्शन।''[२०] गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं – **नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं।** भगवान का नाम जपने से संसार-समुद्र सूख जाता है। **(१/२४/४) नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी।। ब्रह्मसुखहिं अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा।। (१/२१/२)** – ब्रह्म के द्वारा निर्मित इस सृष्टि से विरक्त योगी पुरुष इस नाम का जीभ से जप करते हुये जगते हैं और नाम-रूपरहित अनुपम, अनिर्वचनीय, अनामय ब्रह्मसुख का अनुभव करते हैं। विभिन्न प्रकार के साधक अपनी अभीष्ट सिद्धि हेतु जप किया करते हैं –

जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ।
नाम जीहँ जपि जानहिं तेऊ।।
साधक नाम जपहिं लय लाएँ।
होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ।।
जपहिं नामु जन आरत भारी।
मिटहीं कुसंकट होहिं सुखारी।। १/२१/३-५

– गूढ़ रहस्य को जानने के जिज्ञासु अपनी जिह्वा से नाम-जप कर उसे जान लेते हैं। अणिमादि सिद्धि-प्राप्ति के इच्छुक साधक मन से जप कर सिद्ध हो जाते हैं। नाम-जप के द्वारा दुख-संकट से त्रस्त आर्त भक्त भी दुखमुक्त और सुखी हो जाते हैं। ऐसी महिमा भगवन्नाम जप की है। इसलिये सदा भगवन्नाम का जप करते रहें।

ध्यान करें – भक्त को भगवान के रूप का ध्यान करना चाहिये। ध्यान कहाँ करें? श्रीरामकृष्ण कहते हैं – ध्यान करना चाहिये मन में, कोने में और वन में।[२१] ध्यान चाहें वन में जाकर करें, चाहें घर के कोने में करें, लेकिन सबसे पहले अपने मन में भगवान को स्थान दें। उनके दिव्य ज्योतिर्मय रूप का ध्यान करने का अभ्यास करें। ध्यान से भक्त अपने अन्त:करण से भगवत्-चेतना से संयुक्त होता है।

ईश्वर पर विश्वास करो – यह ध्रुव सत्य है कि जब जीवन की विषम परिस्थिति में जहाँ सब लोग सहायता करने में असमर्थ हो जाते हैं, वहाँ कृपालु भगवान ही हमारी सहायता करते हैं। एक भक्त चारों ओर से निराश हो प्रार्थना करता है –

मात पिता भ्राता सब कोई।
संकट में पूछत नहिं कोई।।
स्वामी एक है आस तुम्हारी।
आय हरहु अब संकट भारी।।

अत: भगवान पर विश्वास करना चाहिये। हृदय से यह बोध करना चाहिये कि वे हमारे अपने हैं, हमारे सबसे निकट

हैं, हमारे सुहृद हैं और सभी परिस्थितियों में हमारे साथ हैं। भौतिक जीवन या आध्यात्मिक जीवन में परस्पर विश्वास ही प्रगति का प्रमुख आधार है। भक्ति मार्ग में ईश्वर के प्रति प्रबल विश्वास ही भक्ति की प्राणशक्ति है।

व्याकुलता – भक्ति-मार्ग से ईश्वर के आराधकों के ईश्वर-दर्शन हेतु सबसे महत्त्वपूर्ण है व्याकुलता। भक्त को ये सब कुछ करते रहने के साथ-साथ हृदय से भगवान के लिये व्याकुल होना चाहिये। उन्हें व्याकुलता से पुकारना चाहिये। एक दिन पंचवटी में घूमते हुये श्रीरामकृष्ण ईश्वर-दर्शन का उपाय बताते हुये मणि से कहते हैं – ''अनुराग होने पर ईश्वर मिलते हैं। अत्यन्त व्याकुलता होनी चाहिये। अत्यन्त व्याकुलता होने पर सम्पूर्ण मन उन्हें अर्पित हो जाता है।...

''बालक जैसे माँ को देखने के लिये व्याकुल होता है, वैसी व्याकुलता चाहिये। इस व्याकुलता के बाद समझना चाहिये कि अरुणोदय हुआ है। इसके बाद सूर्योदय होगा ही। इस व्याकुलता के बाद ही ईश्वर-दर्शन होता है।''[२२]

जब मास्टर महाशय दूसरी बार श्रीरामकृष्ण से मिलने आये थे, तब उन्होंने श्रीरामकृष्ण से पूछा था – ''कैसी अवस्था हो, तो ईश्वर के दर्शन हों?'' श्रीरामकृष्ण ने कहा – खूब व्याकुल होकर रोने से उनके दर्शन होते हैं। पत्नी या पुत्र के लिये लोग आँसुओं की धारा बहाते हैं, रुपये के लिये रोते हुये आँखें लाल कर देते हैं, पर ईश्वर के लिये कोई कब रोता है? ईश्वर को व्याकुल होकर पुकारना चाहिये।''

''व्याकुलता हुई कि मानो आकाश में प्रात:काल की अरुणिमा छा गयी। व्याकुलता के बाद ही भगवद्दर्शन होते हैं।'' (वचनामृत,पृ.९) व्याकुल होकर पुकारने पर भगवान ने गजराज, द्रौपदी, प्रह्लाद आदि की रक्षा की। जंगल में बालक के पुकारने पर माधव दौड़कर आ गये। व्याकुल होकर पुकारने से भगवान ने कितने भक्तों को दर्शन दे उनके दग्ध चित्त को शान्त किया।

भक्ति में बाधक तत्त्व कुसंग का त्याग करें – भगवद्-दर्शन में कुछ बाधक तत्त्व हैं, जिन्हें भक्त को पूर्णत: त्याग कर देना चाहिये। अन्यथा ये विषवत् बनकर भक्ति को नष्ट कर देते हैं। देवर्षि नारदजी कहते हैं – **दु:संग: सर्वथैव त्याज्य:।।**[२३] – कुसंग का सर्वथा त्याग करना चाहिये।

दिशा परिवर्तित कर दो – श्रीरामकृष्ण कहते थे, इनकी (काम-क्रोधादि की) दिशा बदल दो। नारदजी कहते हैं – **तदर्पिताखिलाचार: सन् काम-क्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम्।।**[२४] – सब आचार, सभी क्रिया-कलाप आदि भगवान को समर्पित करने के बाद यदि काम, क्रोध, अभिमानादि हों, तो उन्हें भी उस भगवान के प्रति ही करना चाहिये।

श्रीमद्भागवत में व्यासजी कहते हैं –

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते।।[२५]

– काम, क्रोध, भय, स्नेह, तादात्म्य एवं मित्रता, सभी कुछ जो श्रीहरि के प्रति करते हैं, वे अवश्य ही भगवान के साथ तन्मय हो जाते हैं।

भक्त को जाति-भेद नहीं करनी चाहिए – भक्त को जाति-धर्म का भेद नहीं करना चाहिये। ठाकुर कहते थे भक्तों की जाति नहीं होती। नारदजी भी कहते हैं – **नास्ति तेषु जाति-विद्या-रूप-कुल-धन-क्रियादि भेद:।।**[२६]

नारदजी कहते हैं – भक्त को किसी से वाद-विवाद नहीं करना चाहिये **– वादो नावलम्ब्य:।।**[२७] वाद-विवाद से मन कलुषित-दुखित होता है और शत्रुता रूपी अग्नि बढ़ती जाती है – **वादे-वादे वर्द्धते वैरवह्नि:।**

भक्त को क्या करना चाहिये – नारदजी कहते हैं – **भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तदुद्बोधककर्माण्यपि करणीयानि।।**[२८] – उस भक्ति की प्राप्ति के लिये भक्ति-शास्त्र का मनन करते रहना चाहिये और ऐसे कर्म भी करने चाहिये, जिनसे भक्ति की वृद्धि हो। इतना ही नहीं, **अहिंसा-सत्य-शौच-दया-आस्तिक्यादि-चारित्र्याणि परिपालनीयानि।।**[२९] – अहिंसा, सत्य, पवित्रता, दया, आस्तिकता आदि आचरणीय सदाचारों का भलीभाँति पालन करना चाहिये।

इस प्रकार भक्तों के परम कल्याण हेतु श्रीरामकृष्ण ने युगानुसार सहज सरल रूप में नारदीय भक्ति का अनुमोदन किया। ○○○ **(समाप्त)**

सन्दर्भ सूत्र – १२. (१९ सितम्बर, १८८४, व.अ.पृ.६३०) **१३.** ना.भ.सू.३६ **१४.** वही, ७९ **१५.** वही,४६, ४७ **१६.** २ जनवरी, १८८४, व.अ.पृ.४२४ **१७.** ना.भ.सू.५१ **१८.** ना.भ.सू.५५ **१९.** व.अ. पृ.९ **२०.** वचनामृत **२१.** वही, पृ. ८ **२२.** (१४, दिसम्बर,१८८३, अ. व. पृ. ३७१) **२३.** ना.भ.सू.४३ **२४.** वही, ६५ **२५.** भागवत,१०/२९/१५ **२६.** ना.भ.सू.७२ **२७.** वही, ७४ **२८.** वही ७६ **२९.** वही, ७८

गुरु-पूर्णिमा विशेष

गुरु की ऊर्जा सूर्य-सी

डॉ. जया सिंह

प्राध्यापक, आई.सी.एफ.ए.आई विश्वविद्यालय, रायपुर

गुरु की ऊर्जा सूर्य-सी, अंबर-सा विस्तार।
गुरु की गरिमा से बड़ा नहीं कोई आकार।।
गुरुवर का सान्निध्य ही जग में है उपहार।
प्रस्तर को क्षण-क्षण गढ़े मूरत हो तैयार।।

गुरु मानव मन का मर्मज्ञ, जीवन व सृष्टि के रहस्य का ज्ञाता एवं ईश्वरीय चेतना का चलता-फिरता सचल संवाहक होते हैं। गुरु का व्यक्तित्व विशाल वट-वृक्ष की तरह होता है, जिसकी शीतल छाया में आकर संतप्त शिष्य आन्तरिक शान्ति और अन्तस् समाधान पाता है। वस्तुत: गुरु के द्वार जाने से पहले, उसकी कृपा का पात्र बनने से पहले हम अपने हृदय को टटोलें कि क्या हम शिष्यत्व की मनोभूमि लिए हुए हैं। शिष्य अर्थात् जो अपने अस्तित्व के, अन्तस् के रहस्य को जानने को आकुल है, जो असीम धैर्य के साथ चलने के लिए तैयार होता है। जब एक शिष्य बनने की मनोभूमि तैयार हो जाती है, तब इसमें बीजारोपण करनेवाले गुरु का जीवन में आना सुनिश्चित होता है। तात्त्विक रूप में गुरु-तत्त्व सर्वव्यापी चेतना का प्रतीक होता है, लेकिन व्यावहारिक रूप में गुरु ईश्वर के प्रतीक, प्रतिनिधि और स्वरूप होते हैं। एक शिष्य के लिए वे शिव के समान होते हैं, जो उसकी अन्तर्निहित शक्ति को जाग्रत कर उसे शिवतत्त्व की ओर बढ़ने का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

आध्यात्मिक जीवन में गुरु की आवश्यकता पग-पग पर होती है। ईश्वर की ओर बढ़ने का मार्ग गुरु ही दिखाते हैं। गुरु मानव-चेतना के मर्मज्ञ होते हैं। वस्तुत: वे शिष्य की प्रकृति के अनुरूप साधना-मार्ग दिखाते हैं। वे असीम धैर्य एवं करुणा के साथ उसे सँभालते हैं, लेकिन आवश्यकतानुसार उसकी विकृतियों के शोधन के लिए कठोर प्रहार भी करने से नहीं चूकते। एक कुम्हार की भाँति गुरु हमें आकार देते हैं। जीवन में एक मात्र गुरु ही वह सम्बन्ध है, जो सदैव अपने शिष्य के कल्याणार्थ ही प्रकाशित होता रहता है। शिष्य के तम को अपनी कृपा से प्रकाश में परिवर्तित करने का कार्य गुरु के अतिरिक्त कोई नहीं कर सकता। गुरु के शब्द मंत्र बनकर जब हमारे मन-मस्तिष्क में गुँजने लगें, तभी

हमारा कल्याण सम्भव हो सकेगा। गुरु सत्य हैं, उनकी कृपा शिव है और भावना सुन्दर है। सत्यम् शिवम् सुन्दरम् का सम्पूर्ण समागम ही गुरु में निहित है। इसलिए गुरु सम्पूर्ण हैं, गुरु अशेष हैं, सर्वज्ञ हैं। वे सदैव शिष्य के कल्याण हेतु अवतरित हो उन्हें सुख और शान्ति का आशीर्वाद देते हैं। इसलिए जीवन में जब हमें गुरु की कृपा में भी कृपा की अनुभूति होने लगे, तब जीवन में शिष्यत्व आने की सम्भावना प्रबल हो जाती है।

एक बार एक व्यक्ति ने अपने गुरु से पूछा कि हम ईश्वर के आगे सिर क्यों झुकाते हैं? इस पर गुरु ने बड़ा सुन्दर उत्तर दिया। हमारी चिन्तायें हमारे मस्तिष्क में निवास करती हैं और जब ईश्वर के आगे सिर झुकाकर प्रणाम करते हैं, तो वे चिन्तायें हमारे मस्तिष्क से गिरकर ईश्वर के चरणों में पहुँच जाती हैं और हम चिंताओं के बोझ से मुक्त हो जाते हैं।

जीवन में गुरु का होना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि गुरु वह सेतु है, जो हमें ईश्वर की भक्ति के द्वार तक पहुँचाने का कार्य करते हैं। हमारे जीवन में अध्यात्म लाते है। अध्यात्म का अर्थ अपनी आत्मा या अपने जीवन का

अध्ययन एवं उत्थान है। वास्तव में गुरु का पूर्णरूपेण वर्णन करना सम्भव नहीं है। गुरु की महिमा शास्त्रों में भी ईश्वर से भी बड़ी बताई गई है।

वर्तमान सन्दर्भ में गुरु की विविध श्रेणियाँ दिखाई देती हैं। एक शिक्षक के रूप में जो स्कूलों में शिक्षा देते हैं। एक आचार्य के रूप में जो अपने आचरण से शिक्षा देते हैं। कुलगुरु जो वर्णाश्रम धर्म के अनुसार संस्कार ज्ञान देते हैं। दीक्षा गुरु, जो परम्परा का अनुसरण करते हुए अपने गुरु के आदेश पर आध्यात्मिक उन्नति के लिए मंत्र-दीक्षा देते हैं।

किसी भी क्षेत्र में मार्ग-दर्शन प्राप्त करने हेतु गुरु का होना अत्यन्त आवश्यक है। यही सूत्र अध्यात्म के क्षेत्र में भी लागू होता है। अध्यात्म सूक्ष्म स्तरीय विषय है, अर्थात् बुद्धि की समझ से परे है। गुरु सभी धर्मों और संस्कृतियों के मूलभूत आध्यात्मिक सिद्धान्तों का ज्ञान देते हैं। ईश्वर द्वारा निर्मित मनुष्य, प्राणी में मन और बुद्धि होते हैं, इनका कब, कैसा, कहाँ सार्थक उपयोग करना चाहिए, इसका ज्ञान गुरु के द्वारा ही प्राप्त होता है। अत: हमें जीवन की आध्यात्मिक यात्रा में भी गुरु के मार्गदर्शन की आवश्यकता है।

गुरु की विशेषता यही है कि वे हमें सांसारिक जीवन से साधना पथ की ओर मोड़ते हैं। गुरु हमें आध्यात्मिक स्तर के अनुसार अर्थात् ज्ञान-ग्रहण करने की क्षमता के अनुसार हमारा मार्गदर्शन करते हैं एवं हमारे बुद्धि और चित्त में लगन, समर्पण, भाव, जिज्ञासा, दृढ़ता, अनुकम्पा, दया जैसे गुण विकसित करने में सहायता प्रदान करते हैं। ये सारे गुण अच्छा साधक और मनुष्य बनने के लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं। गुरु ही वह तत्त्व हैं, जो मनुष्य को आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण के व्यवहार का मार्ग-निर्देशन करते हैं। मनुष्य की व्यावहारिक धारणाओं की भी सुसमीक्षा गुरु के द्वारा ही होती है।

हम जीवन को भलीभाँति जी सकें, इसलिए गुरु हमारा सब प्रकार से संरक्षण करते हैं। गुरु का सम्बन्ध जीवन से भी आगे तक जाता है। गुरु के द्वारा प्राप्त सत्संग से, गुरु-तत्त्व के सान्निध्य से ही सही जीवन जीने की प्रेरणा प्राप्त होती है। जीवन के सारे कष्ट-क्लेशों और दुखों के निवारण की दृष्टि भी गुरु के समीप रहकर प्राप्त होती है और जीवन में परमानन्द की प्राप्ति होती है। गुरु के द्वारा ही नव चेतना का सृजन होता है। यह गुरु ही हैं, जो अज्ञानता से ज्ञान की ओर ले जाते हैं। जैसे सूर्य अपनी प्रखर किरणों से जगत का अन्धकार दूर कर देता है, वैसे ही गुरु अपने गहन आध्यात्मिक ज्ञान से शिष्य को ज्ञान-ज्योति प्रदान कर उसके हृदयस्थ तमान्धकार का नाश कर देते हैं।

सत्पथ-सुपथ, स्वस्ति-पथ पर चलने हेतु प्रेरित करनेवाले गुरु ही हैं। इसलिए गुरु-शिष्य का सम्बन्ध प्रकाश, ज्ञान, साधन, साध्य, साधना का सम्बन्ध है। भक्त अथवा शिष्य के प्रत्येक कार्य के पीछे एक अदृश्य शक्ति गुरु की ही होती है। गुरु ही ईश्वर रूप में हमारा मार्ग प्रशस्त करते हैं।

ईश्वरप्राप्त गुरु वह होता है, जिसने आत्मनियन्त्रण की उपलब्धि करने में सर्वव्यापी ब्रह्म के साथ एकरूपता प्राप्त कर ली है। श्रीरामकृष्ण परमहंस जी ने कहा है, केवल एक गुरु अर्थात् सिद्ध पुरुष जो ईश्वर को जानता है, वही दूसरों को सही ढंग से ईश्वर के बारे में शिक्षा दे सकता है। गुरु-शिष्य-सम्बन्ध मित्रता की उच्चतम अभिव्यक्ति है, क्योंकि यह नि:शर्त दिव्य प्रेम, भक्ति और बुद्धिमत्ता पर आधारित होता है। वही सभी सम्बन्धों में सबसे उन्नत और पवित्र होता है।

संसार में फैली हुई अव्यवस्था से बाहर आने के लिये किसी प्रबुद्ध व्यक्ति का अनुसरण ही केवल एक मार्ग है। गुरु तो यही ज्ञान देते हैं कि हृदय से ईश्वर को निरन्तर पुकारो। उनका ध्यान करो। अपने हर कार्य की उपलब्धि ईश्वर की कृपा मानो और इस कृपा में भी केवल कृपा ही दिखाई दे। श्रीरामचरितमानस में तुलसीदासजी लिखते हैं –

मोरि सुधारिहि सो सब भाँती।
जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती।। १/१२७/३

गुरु की शरण में जाकर ही जीवन में सफलता प्राप्त की जा सकती है। जीवन में गुरु का मार्गदर्शन हमें उन्नत और सफल बनाने में सहायक होता है। गुरु की कृपा से ही समझ और सोच विकसित होती है। विचार-क्षमता और विवेक-चेतना जागृत होती है, इससे व्यक्तित्व का निर्माण होता है। ऐसे में मनुष्य प्रतिकूलता में भी अनुकूलता की दृष्टि रखते हैं। गुरु की कृपा और दिशा के बिना व्यक्ति पथ के पत्थर से अपना पैर चोटिल कर सकता है। जबकि गुरु की कृपा से विवेकप्राप्त व्यक्ति उसी पत्थर को सीढ़ी बनाकर अधिक ऊँचा उठने में उसकी सहायता ले लेता है। जीवन में गुरु का निर्देश हमारे जीवन को व्यवस्थित क्रम, सुदृढ़ जीवन शैली और विचारों को उत्कृष्टता प्रदान करता है। ○○○

रथयात्रा विशेष

भगवान जगन्नाथ और उनकी ब्रह्मवस्तु

डॉ. अन्वय मुखोपाध्याय

सहायक प्राध्यापक, मानविकी व सामाजिक विज्ञान विभाग, आई.आई.टी, खड़गपुर

महोदधि के पावन तट पर, श्रीमंदिर में रत्नवेदी पर विराजमान हैं – नीलाचल के स्वामी, भगवान जगन्नाथ। उन्हें दारु-ब्रह्म कहा जाता है, क्योंकि उनका विग्रह नीम के वृक्ष की पवित्र काठ से निर्मित है। जगन्नाथ की मूर्ति इसलिये अद्वितीय है कि यह निरपेक्षता के हिन्दू दृष्टिकोण की एक अमूर्त और फिर भी भावनात्मक रूप से आकर्षक अभिव्यक्ति है। उनकी बड़ी-बड़ी आँखें भगवान विष्णु की उन चक्षुओं की याद दिलाती हैं, जिनका हम प्रत्येक अनुष्ठान से पहले आह्वान करते हैं – वे आँखें जो जगदीश्वर विष्णु की भाँति अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं। **ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् (ऋग्वेद १.२२.२०)** – अर्थात् सायण भाष्य के अनुसार आकाश में चारों ओर विचरण करनेवाली आँखें जिस प्रकार दृष्टि रखती हैं, उसी प्रकार विद्वान भी सदा विष्णु के उस परम पद पर दृष्टि रखते हैं।

ब्रह्म-स्वरूप जगन्नाथ स्वामी रहस्यमय हैं, किन्तु प्रेम के माध्यम से भक्तों के लिये सुलभ हो जाते हैं। हालाँकि, इस लेख में मैं जगन्नाथ देव की ब्रह्म-वस्तु पर ध्यान केन्द्रित करूँगा, जो ब्रह्म की अभिव्यक्ति लकड़ी (दारु) के रूप में जगन्नाथ के रहस्य के केन्द्र में है। जगन्नाथ संस्कृति की सबसे चित्ताकर्षक पहलुओं में से एक नवकलेवर का समारोह है। जिसके अन्तर्गत जगन्नाथ, बलभद्र और सुभद्रा के नए विग्रह बनाये जाते हैं और पुराने विग्रहों को उनके साथ बदल दिया जाता है। नवकलेवर के दौरान जगन्नाथ की ब्रह्म-वस्तु को पुराने विग्रहों से निकालकर नये विग्रहों में प्रतिष्ठित किया जाता है।[१] यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ब्रह्म-वस्तु ही है, जो एक प्रकार से जगन्नाथ विग्रह की आध्यात्मिकता में देवत्व का स्थायी स्थान है और जिसे हम भगवान जगन्नाथ समझते हैं, उसका सार है।

हमें यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि भगवान जगन्नाथ की संस्कृति विविध आध्यात्मिक परम्पराओं और ऊर्जाओं को समाहित करती है। इसमें शैव-वैष्णव और शाक्त-तान्त्रिक प्रथाएँ और मान्यताएँ सम्मिलित हैं।[२] वस्तुत: हमारे शास्त्र में कहा जाता है कि बलभद्र देवी तारा का स्वरूप हैं, सुभद्रा देवी भुवनेश्वरी हैं और जगन्नाथ स्वयं भगवती दक्षिणा कालिका हैं।[३] महानिर्वाण तंत्र में कहा गया है –

उग्रतारा शूलपाणिः सुभद्रा भुवनेश्वरी।
नीलाद्रौ तु साक्षात् जगन्नाथो दक्षिणा कालिका।।

– बलभद्र के रूप में शूलपाणि सदाशिव साक्षात् देवी उग्रतारा हैं, बहन सुभद्रा स्वयं मायाबीजाधिष्ठात्री देवी भुवनेश्वरी हैं और नीलाद्रिक्षेत्र में अवस्थित भगवान जगन्नाथ स्वयं परब्रह्म निर्गुण शून्यरूपा दक्षिणा काली ही हैं। यहाँ यह भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि जगन्नाथ मन्दिर परिसर में ही भगवती देवी विमला का मन्दिर भी है, जो एक तान्त्रिक देवी हैं और विद्या-स्वरूप हैं। तंत्र चूड़ामणि के अनुसार यह तीर्थ सती पीठ है, जहाँ देवी की नाभी गिरी थी। केवल यहीं पर जगन्नाथ को ही देवी का भैरव कहा जाता है, जबकि अन्य सभी सती-पीठों में शिव के विशिष्ट रूपों को देवी के भैरव के रूप में पूजा जाता है –

उत्कले नाभिदेशस्तु विरजाक्षेत्रमुच्यते।
विमला सा महादेवी जगन्नाथस्तु भैरवः।।

भगवान जगन्नाथ भी भगवान श्रीरामकृष्ण की तरह ही 'सर्वदेवदेवीस्वरूप' हैं तथा सभी आध्यात्मिक धाराओं के अन्तिम संश्लेषण का प्रतीक हैं, वे एक ही साथ शिव, विष्णु और देवी हैं। ऐसा कहा जाता है कि वे सभी पंचदेवताओं के अवतार हैं।[४] इसलिए भगवान जगन्नाथ केवल विष्णु नहीं हैं, बल्कि हिन्दू धर्म में सभी देवताओं की अभिव्यक्ति हैं। भक्त की भक्ति व भावानुसार ही '**उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना**' है तथा जिसकी जैसी भावना होती है, भगवान भी उसे उसी रूप में ही दिखाई देते हैं –

जाकी रही भावना जैसी।
प्रभु मूरत देखी तिन तैसी। (मानस १.२४१.४)

हम जिस रूप में ईश्वर का ध्यान करते हैं, वे हमारी श्रद्धा उसी रूप में स्थापित करते हैं। वे स्वयं तो अनन्त और निराकार हैं – न कोई गुण, न रूप, न गन्ध, न स्पर्श।

इस प्रकार जगन्नाथ का अमूर्त रूप उन्हें किसी सम्प्रदाय के किसी विशिष्ट देवता की तुलना में निराकार ब्रह्म के अधिक समीप लाता है।[५] ब्रह्मस्वरूप जगन्नाथ को श्रीकृष्ण के रूप में पूजा जाता है, भले ही उनके आसपास के अनुष्ठान और मान्यताएँ तान्त्रिक सन्दर्भ और पद्धतियों का आश्रय ही क्यों न लें।[६] वह शाबर तंत्र के देवता भी हैं।[७] जिन्हें शबर लोग नारायण के प्रतीक के रूप में सुशोभित करते थे। एक अन्य कथानुसार वे नीलमाधव हैं, जो नीले पत्थर से बनी नारायण की मूर्ति हैं और आदिवासियों द्वारा पूजे जाते थे। उन्हें ही नीलगिरी या नीलाचल लाया गया और बलभद्र व सुभद्रा के साथ श्रीजगन्नाथ के रूप में वहाँ स्थापित किया गया। जगन्नाथ अध्यात्म जगत की यह समग्र संस्कृति ब्रह्म-वस्तु के विषय को और अधिक रहस्यमय और रोमांचक बनाती है। कोई भी निश्चित रूप से नहीं जानता कि यह क्या है।

कुछ लोग कहते हैं कि यह भगवान श्रीकृष्ण की नाभि है। जो उनके शरीर छोड़ने के बाद उनके शरीर के साथ नहीं जली थी। ऐसा कहा जाता है कि कृष्ण की नाभि समुद्र (अरब सागर) के पार तैरती हुई महोदधि (बंगोपसागर) के तट पर पहुँच गई।[८] यह भी कहा जाता है कि ब्रह्म-वस्तु वास्तव में देवी सती की नाभि है।[९] जो लोग श्रीरामकृष्ण की समन्वयवादी विचारधारा से भली-भाँति परिचित हैं, उनके लिए इस पर विचार करना आनन्दप्रद होगा। चूँकि ठाकुरजी जैसे समन्वयवादी विचारक कृष्ण और देवी को तात्त्विक रूप से अविभाज्य रूप में देखेंगे। उसी दृष्टिकोण से सती की नाभि और कृष्ण की नाभि अन्ततः एक ही होगी, एक अविभाज्य ब्रह्म, जो ब्रह्माण्ड के केन्द्र में स्थित है। भगवान श्रीरामकृष्ण के अनुसार अवतार वास्तव में शक्ति की लीला का ही प्रकटीकरण है।[१०] इसलिए देवी सती का अवतार और कृष्ण का अवतार; दोनों एक ही महाशक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। ललिता सहस्रनाम में जगदम्बा को 'विष्णुरूपिणी' (ललितासहस्रनाम १:१६६) कहा गया है, तो वहीं बह्माण्ड पुराण में देवी ने कहा है कि कृष्ण के रूप में मेरा पुरुष रूप ग्वाल-बालों को मोहित कर रहा है। ललिता के स्वरूप श्रीकृष्ण अपनी बाँसुरी से सम्पूर्ण जगत को मोहित कर रहे हैं –

ममैव पौरुषं रूपं गोपिका जनमोहनम्।
कदाचिदाद्या ललिता पुंरूपा कृष्णविग्रहा।।
वेणुनाद विनोदेन विवशीकुरुते जगत्।

श्रीईश्वर-गीता के पाँचवें अध्याय में आता है कि उच्चकोटि के ऋषि निष्कलंक नारायण को, जो संसार की योनि अर्थात् स्रोत/उत्पत्ति के रूप में हैं, उनको रुद्र के साथ एकाकार होते हुए देखते हैं – **''क्षणेन जगतो योनिं नारायणमनामयम्।।'' (ईश्वर गीता ५.१६)** तथा शिव महापुरुष में भगवान विष्णु को प्रकृति और रुद्र को पुरुष कहा गया है। वहाँ आता है कि बीज उनके भीतर जमा है, जो नाभि कमल से पंचमुखी ब्रह्मा के रूप में जन्म लेता है, अर्थात् सृष्टि-रचना होती है –

प्रकृतिस्त्वं पुमान्रुद्रस्त्वयि वीर्य्यं समाहितम्।
त्वन्नाभिपङ्कजाज्जातः पञ्चवक्त्रः पितामहः।।

(शिव महापुराण ३.११.४०)

यहाँ तक कि कुछ महापुराणों और उपपुराणों, जैसे शिव पुराण, देवी भागवत, कालिका पुराण आदि में भी वर्णन किया गया है कि कैसे जब माँ उमा ने भगवान कृष्ण का अवतार लिया, तो भगवान शिव देवी राधा बन गए। जब वे भगवान राम बनीं, वह माता सीता बने इत्यादि। यहाँ तक कि महाभारत में भी अलग-अलग अवसरों पर भगवान विष्णु और माँ दुर्गा दोनों की मधु और कैटभ के हन्ता के रूप में प्रशस्ति गायी गई है। अतएव जगन्नाथ, सती या कृष्ण की नाभि का सम्यक् अवतार, देवी और कृष्ण की एकता का उदाहरण देते हैं। इस प्रकार दक्षिणा काली के रूप में वह अपने शरीर में आद्या शक्ति देवी सती के उत्कृष्ट सारभूत तत्त्वों को धारण करेंगे, जबकि गोपाल के रूप में पूजे जाने पर वह श्रीकृष्ण की आत्मा के अवतार स्वरूप।

ऐसा कहा जा सकता है कि ब्रह्म-वस्तु केवल जगन्नाथ नामक देवता का ही प्राण नहीं हैं, बल्कि पुरी की पूरी जगन्नाथ संस्कृति का भी प्राण है। इसकी गोपनीयता और परम पवित्रता भी जगन्नाथ की आध्यात्मिक संस्कृति का मूल है। यह अदृश्य ब्रह्म-वस्तु ही है, जो जगन्नाथ की बड़ी-बड़ी आँखोंवाली छवि के भीतर हमारी पूजा का मुख्य केन्द्र है। किसी को आश्चर्य हो सकता है कि जगन्नाथ के विशाल मन्दिर में पूजा की अन्तिम (मुख्य) वस्तु को इतना गुप्त

रखा जाता है। क्या किसी को श्रीगौरांग महाप्रभु की भाँति बड़ी आँखोंवाले भगवान से प्यार नहीं होता? हाँ, तथ्य यह है कि ब्रह्म-वस्तु ही भगवान के विशाल श्रीमन्दिर में उनकी विशाल छवि की दिव्य गतिशीलता को प्रेरित करता है। ऐसा कहा जा सकता है कि साधना के इस चक्र में अन्तिम और अन्तरतम बिन्दु अदृश्य रहता है। यही एक तरह से हिन्दू दर्शन का सार भी है। हम जो कुछ भी करते हैं या कहते हैं, वह अन्ततः ब्रह्म पर ही लक्षित होता है, जो अदृश्य और गूढ़ है। हमारी सारी पूजा उस ब्रह्म की ओर अग्रसर होती है, जो सभी पूजाओं से परे है। यह हमारे भीतर ब्रह्म-वस्तु ही है, साथ ही देवताओं की छवि में भी वही है, एक और अविभाज्य, जिसकी हम पूजा करते हैं और ज्ञान या भक्ति के माध्यम से उस तक पहुँचना चाहते हैं। हमारे दैनिक जीवन में भी वे हमें देखा करते हैं, एक महान द्रष्टा की भाँति, जिसका प्रतिनिधित्व जगन्नाथ के चाका-नयन करते हैं। हमारे गहनतम ध्यान में, हम दृश्यमान (दृश्य) नहीं हैं, बल्कि द्रष्टा के निकट हैं। अर्थात् जगन्नाथ के हृदय के निकट हैं, जिसमें उनकी आँखों के पीछे ब्रह्म-वस्तु निवास करती है। यह देखना मनोरंजक है कि कैसे लोग ब्रह्म-वस्तु के रहस्य की ओर आकर्षित होते रहते हैं। यह सदैव आम हिन्दुओं के लिए आकर्षण और जिज्ञासा का एक अनूठा केन्द्र बना हुआ है।

हर कोई जानना चाहता है कि वास्तव में ब्रह्म-वस्तु क्या है? यह दिखाई कैसा देता है? इसे छूने पर कैसा लगता है? इसकी गंध कैसी है? ये प्रश्न वैसे तो वस्तुगत या भौतिक स्तर से उभरते हैं। आध्यात्मिक स्तर पर, प्रश्न को इनके अलावा अन्य शब्दों में निर्माण करने की आवश्यकता है। माता सती की नाभि का सार क्या है? क्या यह विश्व माता की नाभि नहीं है, जो विश्व को एक साथ धारण करती हैं? क्या कृष्ण की यह नाभि उनके उस रहस्यमय प्रेम का स्रोत नहीं है, जिसके लिए गोपियाँ पागल हो गई थीं? क्या कृष्ण की नाभि योगशक्ति का स्रोत नहीं है? क्या देवी सती की नाभि भी उनकी गूढ़ योगशक्ति का रहस्य नहीं है? जहाँ कृष्ण महायोगी थे, वहीं सती महायोगिनी थीं। ऐसा नहीं है कि सती या कृष्ण की नाभि को भौतिक शरीर के द्वारा नहीं छुआ जा सकता, बल्कि आध्यात्मिक तपस्या के माध्यम से पवित्र किये गये यौगिक शरीर से स्पर्श किया जा सकता है?

उदाहरणस्वरूप, नाभि केन्द्र का प्रतीक भी हो सकती है, जैसे श्रीयंत्र का केन्द्रीय बिन्दु। इसी केन्द्र में संसार का आरम्भ और अन्त होता है। जब हम ब्रह्म-वस्तु की बात करते हैं, तो क्या हम वास्तव में परा ब्रह्म का ही उल्लेख नहीं करते हैं? ब्रह्माण्ड का परम तत्त्व क्या है? यही वह तत्त्व है, जो जगन्नाथ का सार है – उनका मूलभूत तत्त्व। जिस प्रकार प्रणव सभी देवताओं का सार तत्त्व है, उसी प्रकार जगन्नाथ की ब्रह्म-वस्तु भी पंचदेवताओं का सार है, जो जगन्नाथ के व्यक्तित्व में एकीकृत है। यह नाभि ही है, जिससे ब्रह्म-नाद पारलौकिक आकाश की ओर ऊपर उठता है। कोई कह सकता है कि जगन्नाथ की दारु-मूर्ति में सन्निहित सती या कृष्ण की नाभि वास्तव में कुंडलिनी शक्ति के रूप में परा वाक्, प्रणव का स्थान है, जो धीरे-धीरे अपने सभी नामों व रूपों के साथ समूचे ब्रह्माण्ड के रूप में प्रकट होती है। जिस प्रकार कोई ब्रह्म को नहीं जान सकता, लेकिन तपस्या के माध्यम से उसके साथ एक हो सकता है, उसी प्रकार कोई भी व्यक्ति जगन्नाथ की ब्रह्म-वस्तु के साथ एक हो सकता है, भले ही वह उसे न जान सके।

छान्दोग्य उपनिषद के आठवें अध्याय में शरीर में आत्मा की स्थिति के बारे में बताया गया है, ठीक उसी प्रकार जैसे जगन्नाथजी के भीतर ब्रह्मवस्तु स्थित है। इन छह प्रारम्भिक खण्डों में शरीर के भौतिक स्वरूप में आत्मा की स्थिति का वर्णन किया गया है और हृदय तथा आकाश की तुलना की गयी है। यहाँ आत्मा के इस प्रसंग को गुरु-शिष्य परम्परा के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है। गुरु अपने शिष्यों से कहता है कि ''मानव-हृदय में अत्यन्त सूक्ष्म रूप से 'ब्रह्म' विद्यमान रहता है।'' – **'स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्यमिति तस्माद्ददयमहरहर्वा एवं वित्स्वर्गं लोकमेति।।** अर्थात् वह आत्मा हृदय में ही स्थित है। 'हृदय' का अर्थ है – 'हृदि अयम्' – वह हृदय में है। यही आत्मा की व्युत्पत्ति है। इस प्रकार जो व्यक्ति आत्मतत्त्व को हृदय में जानता है, वह प्रतिदिन स्वर्गलोक में ही गमन करता है। वास्तव में जितना बड़ा यह आकाश है, उतना ही बड़ा और विस्तृत यह चिदाकाश हृदय भी है। यह बिलकुल जगन्नाथजी की ब्रह्म-वस्तु की भाँति है। जिस प्रकार नित्य ही इस हृदय में अत्यन्त सूक्ष्म रूप में 'आत्मा' निवास करती है। उसी प्रकार जो साधक अपनी साधना से इस 'आत्म-तत्त्व' रूपी 'ब्रह्म-तत्त्व' को जानता है, वह नित्य ही स्वर्गरूपी बैकुण्ठ (अथवा भौतिक रूप से पुरुषोत्तम क्षेत्र स्थित भगवान

के श्रीमंदिर) में आरोहण करता है तथा जगन्नाथ के साथ एकीकृत हो जाता है। यह शरीर के नगर ११ (ब्रह्मपुर) में अन्तराकाश-स्वरूप ब्रह्म की तरह है, जहाँ यदि कोई एक बार पहुँच जाए, तो वह हमें ब्रह्माण्ड के साथ एक कर देता है और हमें इससे परे जाने में सहायक होता है। जिस प्रकार प्रणव शब्द ब्रह्म और परब्रह्म दोनों है, उसी प्रकार जगन्नाथ की मूर्ति और ब्रह्म-वस्तु प्रकटीकृत रूप से दारू-ब्रह्म और पर-ब्रह्म हैं तथा दोनों ही प्रणव के माध्यम से पूजनीय हैं।

उपनिषदीय ऋषिगण आगे कहते हैं कि यह शरीर समय के साथ-साथ जर्जर होता चला जाता है और एक दिन वृद्ध होकर मृत्यु का ग्रास बन जाता है। इसीलिए शरीर को नश्वर कहा गया है, परन्तु इस शरीर में जो 'आत्मा' विद्यमान है, वह कभी नहीं मरती। व न तो जर्जर होती है, न वृद्ध होती है और न मरती है। **''स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता एष आत्मा पहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पो यथा ...''** अर्थात् इस (देह) की जरावस्था से यह (आकाशाख्य ब्रह्म) जीर्ण नहीं होता। इसके वध से उसका नाश नहीं होता। जिस तरह यह ब्रह्मपुर सत्य है, इसमें (सम्पूर्ण) कामनाएँ सम्यक् प्रकार से स्थित हैं, यह आत्मा धर्माधर्म से शून्य है तथा जराहीन, मृत्युहीन, शोकरहित, भोजनेच्छा रहित, पिपासाशून्य, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है। ठीक उसी प्रकार भगवान की नीमकाठ से विग्रह की पूजा करने की जो परम्परा है, उसे नवकलेवर के बाद इसे छोड़ दिया जाता है तथा उसे परिवर्तित कर नये विग्रह की प्रतिष्ठा की जाती है। किन्तु ब्रह्म-वस्तु ही सदैव आत्मा की भाँति यथावत् बनी रहती है। मंदिर का विशाल भवन, बृहद् पूजा-अनुष्ठान, भक्तों की भीड़, पूजा, कीर्तन और आत्म-समर्पण के स्पंदन करते ब्रह्माण्ड के अंदर सब कुछ बाहर रहता है तथा परम वास्तविकता अदृश्य रहते हुए भी चारों ओर अपनी दिव्यता बिखेरती है। मन्दिर में अधिष्ठित देवता की पूजा करते समय हमें इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि हमारी पूजा केवल अनुष्ठान मात्र न रह जाए, अपितु आध्यात्मिक ज्ञान का स्रोत भी बन जाए।

गौरांग महाप्रभु की आध्यात्मिक शक्ति से संवर्धित एक बहुत शक्तिशाली भक्ति-परम्परा के भीतर स्थित, भगवान जगन्नाथ हर किसी को भक्ति की याद दिलाते हैं। यद्यपि अन्तर्दृष्टि से देखने पर वे आध्यात्मिक ज्ञान के एक वास्तविक स्रोत, ज्ञान के अवतार भी प्रतीत होते हैं। इतना बड़ा विग्रह, इतने सुंदर और भव्य देवता, अन्ततः अदृश्य ब्रह्म-वस्तु में निहित रहते हैं, जहाँ तक किसी की भी इन्द्रियों के माध्यम से पहुँच नहीं होती है। जबकि भगवान को विस्तृत भोग चढ़ाने की राजकीय प्रणाली, पूजा अनुष्ठानों की राजसी भव्यता और हार्दिक भक्ति की झलक बाहर से जगन्नाथ संस्कृति को सूचित करती है, जो अंदर से ब्रह्म-तत्त्व की गहराइयों में निहित है। इसलिए जगन्नाथजी का सच्चा उपासक यह नहीं जानना चाहेगा कि ब्रह्म-वस्तु क्या है? वह सहज रूप से, ध्यानपूर्वक इसकी ओर अग्रसर हो, इसके साथ एक हो जाना चाहेगा। ब्रह्मा का आसन, आदि कमल, विष्णु की नाभि से निकला है। यह वह कमल है, जो ब्रह्माण्ड के खिलने का प्रतिनिधित्व करता है। कृष्ण की नाभि या देवी तक पहुँचने के लिये, व्यक्ति को ब्रह्माण्डीय कमल से उसकी जड़ों तक, विपरीत यात्रा करनी होगी। उसी प्रकार जगन्नाथ संस्कृति का अद्भुत कमल हमें अपनी जड़ों की ओर, ब्रह्म-वस्तु की ओर, जो कि परम ज्ञान है, उसकी ओर आगे बढ़ने के लिए उत्साहित करता रहता है। यह कीर्तन के परे और पीछे की शान्ति में निहित रहता है, भक्तों की व्यस्त और त्वरित गतिविधियों से परे स्थिरता व शान्ति में निहित है। जिस प्रकार जगन्नाथजी की आँखें हमें देखने के लिए हर जगह व्याप्त हैं, उनकी ब्रह्म-वस्तु भी हम सभी के लिए, हर जगह सुलभ है। यद्यपि यह केवल तब होता है, जब स्पष्ट जगत ध्वस्त हो जाता है और पारलौकिक जगत हमारे समक्ष आ जाता है। तब यह हमारी आध्यात्मिक आँखों के लिये सुलभ हो जाता है।

यदि आप जानते हैं कि वास्तव में ध्यान कैसे किया जाता है, तो आप चारों ओर सागर की आवाज सुनेंगे और भगवान की आँखों को ऊपर आकाश से आपको देखते हुए अनुभूति करेंगे, तत्पश्चात् सांसारिक अस्तित्व की बढ़ती लहरों से परे, जगन्नाथजी के हृदय के भीतर, आप धीरे-धीरे देवी सती की अमर नाभि तक पहुँच जाएँगे, जो श्रीकृष्ण के साथ एक है। ब्रह्मवस्तु आपको अपने साथ एक कर देगी, और धीरे-धीरे आप भगवान जगन्नाथ के साथ एकीकृत हो जायेंगे, उनके विश्व के साथ एक हो जायेंगे, सागर के साथ

शेष भाग पृष्ठ ३०६ पर

रामगीता (५)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(पं रामकिंकर महाराज श्रीरामचरितमानस के अप्रतिम विलक्षण व्याख्याकार हैं। रामचरितमानस में रस है, इसे सभी जानते हैं और कहते हैं, किन्तु रामचरितमानस में रहस्य है, इसके उद्घाटक 'युगतुलसी' की उपाधि से विभूषित श्रीरामकिंकर जी महाराज हैं। उन्होंने यह प्रवचन रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के पावन प्रांगण में विवेकानन्द जयन्ती के उपलक्ष्य में दिया था। 'विवेक-ज्योति' हेतु इसका टेप से अनुलेखन श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी जी और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है। – सं.)

अन्त में यह लम्बा प्रसंग यह बताने के लिये है कि बुरे व्यक्तियों के जीवन में ही नहीं, ऋषियों में भी विचलन हो जाता है। वहाँ पर मोह और अहम् इन दोनों को बड़े सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया गया है। काम इन्द्र की आज्ञा से देवर्षि को विचलित करने के लिए वहाँ जाता है। पर वे किसी प्रकार से विचलित नहीं होते –

काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी।
निज भयँ डरेउ मनोभव पापी।। १/१२५/७

पर अगला वाक्य गोस्वामीजी ने बहुत सांकेतिक लिखा –

सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू।
बड़ रखवार रमापति जासू।। १/१२५/८

जब भगवान स्वयं किसी के रक्षक हों, तो उस सीमा को कौन लाँघेगा? उसके बाद काम विदा हो जाता है। काम को नारदजी ने क्षमा भी कर दिया। काम ने जाकर स्वर्ग में नारद की और भगवान की भक्ति की प्रशंसा की। पर वह काम गीता वाला प्रसंग यहाँ पर सार्थक होता हुआ दिखाई देता है।

देवर्षि नारद ने काम को जीत लिया, पर सचमुच जीत लिया क्या? अगर जीत ही लिया होता, तो आगे चलकर जिस तरह से उनके जीवन में काम की व्याकुलता आई, उस व्याकुलता का उदय उनमें न हुआ होता। उसका मूल तात्पर्य यह है कि बुरे व्यक्ति तो अपने भीतर कभी देखेंगे ही नहीं, पर अच्छा से अच्छा व्यक्ति भी कभी उस मूल केन्द्र से विचलित हो जाए और केन्द्र से विचलित होकर वह अपने आपको श्रेष्ठ मानने की भूल कर बैठे, जैसा कि देवर्षि के प्रसंग में हुआ। मोह का अर्थ है जानकर भी न जानना। यही गोस्वामीजी ने दोहावली रामायण में और अन्य प्रसंगों में व्याख्या की है। जो नहीं जानता, वह अज्ञानी है। जो जानता है, वह ज्ञानी है। जानकर भी जिसका व्यवहार उससे उलटा है, वह मोहग्रस्त है – **पुनि नारद कर मोह अपारा**। क्या है? नारदजी महान भक्त के रूप में, महान ज्ञानी के रूप में, योगी के रूप में प्रसिद्ध हैं। नारदजी से बढ़कर यह कोई नहीं जानता कि मोह और अभिमान कितने बुरे हैं। मोह क्या है? सब कुछ जानते हुए भी उस विजय का श्रेय उन्होंने अपने आप को दे दिया। रावण अगर अपने विजय का श्रेय अपने आप को दे, तो उसके लिए तो स्वाभाविक है। वह तो जब कहेगा, तो यही कहेगा, 'निज भुजबल' अपनी भुजाओं के बल से मैंने विजय प्राप्त की। पर एक भक्त जिसने काम को जीत लिया और उस जीत को यह मान लिया कि मैंने काम को अपने बल से जीता है। कितना प्रबल मोह उस समय सामने आ गया होगा। जबकि इस बात को वे अच्छी तरह से जानते हैं कि इतने सारे विकारों से रक्षा तो एक मात्र ईश्वर की कृपा और ईश्वर की रक्षा के द्वारा ही होती है।

इस मोह का तात्कालिक परिणाम क्या हुआ? ये दोनों जुड़े हुए हैं। मानो ये एक सिक्के के दो पहलू हैं? इस मोह का परिणाम सबसे पहले अहम् के रूप में सामने आया। नारदजी को लगने लगा कि आज मैंने कितना बड़ा कार्य किया ! मैंने कितनी बड़ी सफलता प्राप्त कर ली ! तब ध्यान किस ओर गया? चेले जब आगे बढ़ते हैं, तो गुरुजी की ओर ही सबसे पहले ध्यान जाता है कि गुरुजी को मैंने पछाड़ दिया कि नहीं।

वह प्रसिद्ध घटना है। हमारे बनारस के एक बड़े विद्वान थे। प्राचीन काल में शास्त्रार्थ की परम्परा थी। उन्होंने सारे देश की यात्रा की और सारे विद्वानों को चुनौती देकर हरा दिया। वे जब दिग्विजयी होकर गुरुजी के पास गये, तो गुरुजी भी प्रसन्न हुए कि शिष्य मुझे प्रणाम करने मेरे पास आया है। लोगों को भी लगा कि गुरुजी के पास ये प्रणाम

करने गये हैं। पर बाद में उनके बातों से लगा कि वे प्रणाम करने नहीं गये थे। उनका उद्देश्य कुछ दूसरा ही था। जब गुरुजी ने गद्‌गद कण्ठ से कहा कि वाह, मैंने सुना है कि तुमने देश के सारे विद्वानों को हरा दिया, तो शिष्य ने कहा, बस आप बाकी रह गये हैं। इसका अर्थ क्या हुआ? मानो व्यक्ति इतना अभिमानी हो जाता है कि वह गुरु-शिष्य की मर्यादा को भी भूल जाता है। वह तो साधारण व्यक्ति था, पर नारदजी तो महानतम ऋषि हैं, देवर्षि हैं। जो भी हो, उनका ध्यान सबसे पहले गुरुजी की ओर गया। उनके गुरुजी कौन हैं? शंकरजी। वे तो त्रिभुवन-गुरु हैं। नारदजी के भी गुरु हैं। सबसे पहले गुरुजी से अपनी तुलना की – आज जो मैंने कार्य किया है, वह गुरुजी ने भी नहीं किया। यहीं उनमें अहम् हो गया और उनके मोह के साथ अहम् जुड़ गया। गुरु मुझसे पिछड़ गया। उसमें भी विशेषता यही कि उन्होंने भले ही काम को जीत लिया हो, पर क्रोध को तो नहीं जीत पाए। क्रोध में काम को भस्म करने की बात कही जाती है। पर मैं कितना उदार हूँ कि मैंने तो काम पर क्रोध भी नहीं किया। वे तो केवल काम के विजेता हैं, पर मैं तो काम-क्रोध दोनों का विजेता हूँ। इसलिए गुरुजी से मैं बड़ा हूँ। जब अहम् और मोह दोनों मिल गए, तो कहना ही क्या ! अहंकारी की समस्या सबसे बड़ी यह होती है कि तुरन्त उसको दूसरे की आवश्यकता होती है। यह अहम् का पहला लक्षण है। जब आपको यह आवश्यकता अनुभव हो कि दूसरा चाहिए, तो दूसरा चाहिए का अर्थ क्या हुआ? अहम् को सुरक्षित रखने का एक ही उपाय है, अगर आप अपने ज्ञान और विद्वत्ता का अहम पालना चाहें, तो पहले एक मूर्ख को ढूँढ़िए, जो आपकी तुलना में मूर्ख हो। आप उससे बात करके उसकी हँसी उड़ाकर सिद्ध कर सकें कि कितना मूर्ख है यह। सामने वाले को महामूर्ख कहकर मानो हम अपनी स्तुति करते हैं कि मैं कितना बड़ा विद्वान हूँ, मैंने इसको हरा दिया। आज इतने बड़े व्यक्ति के जीवन में भी, उनमें जब अहम् आया, तो सबसे पहले उन्हें अपने गुरु शंकरजी की याद आई, पर गुरुजी की वन्दना करने के लिये नहीं, गुरुजी की परीक्षा लेने के लिये। देखें, मेरी काम-विजय की बात सुनकर शंकरजी को कैसा लगा। मेरी विजय की बात सुनकर वे प्रसन्न होते हैं कि नहीं। उसके बाद वह क्रम आता है। इसका मनोविज्ञान यह है, इसमें मोह ही मूल कारण। क्योंकि मोह न हो, तो अहंकार कभी नहीं हो सकता। जब मोह होगा, तो अहंकार होना स्वाभाविक है। बिना मोह हुए अहंकार होगा ही नहीं। अहंकार मोह से ही उत्पन्न होता है, यह मोहजन्य है। अहंकार के मूल में मोह ही है। मोह के अभाव में तो जो कुछ है, उन सब में भगवान दिखाई देंगे। यदि वह मोह आ गया, तो उसके बाद तो अभिमान ही आयेगा। उसी अभिमान की मनोवृत्ति लेकर जब नारद शंकरजी के पास जाते हैं और उनसे कहते हैं – आज मैं आपको एक नई कथा सुनाने आया हूँ। उन्होंने कथा सुनाई– **मार चरित संकरहि सुनाए**।

उन्होंने शंकरजी को काम-विजय की कथा सुनाई। काम विजय माने? काम-विजय क्या इतना है कि काम हारकर लौट गया? जब आप काम-विजय का चिन्तन करेंगे कि कैसे अप्सराएँ आईं, कैसे उन्होंने नृत्य किया, कैसे मेरे मन पर प्रभाव नहीं पड़ा, तो यही काम की सबसे बड़ी विजय है। काम जब हारता है, तब भी जीतता ही है। जब वह जीतता है तो बाहर से जीत लेता है और हारता है, तो भीतर पैठ जाता है और भीतर पैठकर उन दृश्यों का चिन्तन कराता है। यही हुआ, जब नारदजी ने शंकरजी को मार-चरित सुनाया। वक्ता लोग बड़े व्यग्र रहते हैं यह जानने के लिए कि कैसा प्रभाव पड़ा श्रोता के ऊपर। इसलिए कई लोग तो संकोच छोड़कर, अपने पास वालों से, शिष्यों से और कभी श्रोता से भी पूछ लेते हैं कि कैसी लगी, कैसी जमी। मानो यह व्यग्रता है कि सामनेवाला मेरी वक्तृता की प्रशंसा करे। नारदजी की जिज्ञासा थी कि कैसी लगी कथा। शंकरजी का तो क्या कहना है, वे विनम्रता की मूर्ति थे। बोले – **बार बार विनवउँ मुनि तोही**। जब गुरुजी शिष्यजी को प्रणाम करने लगें, तो शिष्य को सावधान हो जाना चाहिए। लेकिन शिष्य को यह लगा कि अब मैं इतना वन्दनीय हो गया हूँ कि गुरुजी भी मुझसे विनय कर रहे हैं। तब शंकरजी एक-एक शब्द बड़ी सावधानी से बोले। उन्होंने यह नहीं कहा कि यह कथा मत सुनाइए। उन्होंने कहा – आपने जैसी यह कथा मुझे सुनाई, वैसा विष्णु भगवान को मत सुनाइयेगा –

जिमि यह कथा सुनायहु मोही।
तिमि जनि हरिहि सुनावहु कबहूँ।। १/१२६/७-८

जैसे माने जिस पद्धति से आपने मुझे कथा सुनायी, इसका अर्थ क्या है? इसी कथा को आप चाहते, तो दूसरे अर्थ में भी रख सकते थे, पर आपने वैसा नहीं किया। आपने सारी कथा का उद्देश्य अपने अहं को बना लिया। भगवान शंकर थोड़े शब्दों में बहुत कुछ कह गये। अगर कोई श्रोता वक्ता के पूछने पर यह कह दे कि महाराज, आपने आज

जो कुछ कह दिया, सो कह ही दिया, पर आगे ऐसी बात कभी न कहिएगा। तो इससे कठोर आलोचना और क्या हो सकती है। अन्त में नारदजी को लगा कि शंकरजी ईर्ष्या के कारण नहीं चाहते कि मैं अपनी विशेषता लोगों को बताऊँ।

उसके बाद देवर्षि की ऐसी दशा होती है कि क्षीर सागर में जाने के बाद उन्हें भगवान में भी दोष दिखाई देता है। उनको लगता है कि एक शंकर हैं, जो ईष्यालु हैं और दूसरे विष्णु हैं, वे तो बड़े भोगी हैं, लक्ष्मी से पैर दबवा रहे हैं, क्षीर सागर में पड़े हुए हैं। उन्हें गुरु और ईश्वर दोनों में दोष दिखाई देने लगता है। व्यक्ति के जीवन में मोह और अभिमान आ जाता है। जिसने गुरु की अवहेलना की, तो मानो उसके जीवन मे मोह आ गया। ईश्वर जिसमें 'दूषण भी भूषण सरिस' हो जाता है, जिस ईश्वर को पाकर दोष भी गुण बन जाते हैं, उस ईश्वर के गुण में भी दोष-दर्शन करना अनर्थकारी ही होगा। उसका परिणाम होता है कि भगवान ने नारद को यह बता दिया कि नारद, तुमने यह भ्रम व्यर्थ पाल लिया कि तुमने काम को जीत लिया। यह कहीं से भी काम पर तुम्हारी विजय नहीं है। तुमने किसी भी विकार को नहीं जीता है।

भगवान ने ऐसी माया का विस्तार किया कि छहों विकार नारद के जीवन में आ गये। मानो इसका तात्पर्य यह था कि जिस विकार को तुम जीतने का दावा करते हो, वे सारे विकार तुम्हारे अन्त:करण में प्रविष्ट हो गये हैं और आज तुम्हारे सामने इस सत्य को प्रगट कर रहे हैं। उसके बाद उस लीला का जो अन्तिम उद्देश्य था, वह सावधान करना था कि मोह और अभिमान की ये वृत्तियाँ बहुत प्रबल हैं और एक के आने पर दूसरे का आना अवश्यम्भावी है। इसका निराकरण तो एकमात्र भगवान की कृपा से ही होता है। अन्त में यही नारदजी के जीवन में दिखाई देता है। श्रद्धेय स्वामीजी महाराज ने जो प्रश्न रखा है, जो प्रश्न का स्वरूप है, वह जितना जटिल है, उतना ही हमारे आपके जीवन का सत्य है, वह हमारे आपके जीवन को अन्तर्मुख बनने की प्रेरणा देता है। हमें दूसरे की ओर ही नहीं, हमें अपनी ओर भी देखना है। अपने अन्त:करण में जब हम बुराई से हारते हैं, तभी नहीं, जब हम बुराई को जीतते हैं, तब भी कितनी समस्याएँ आ सकती हैं, इसकी ओर संकेत है। इसलिए आज भूमिका के रूप में यह तो बहुत लम्बा समय मैंने ले लिया। एक तो श्रद्धेय स्वामीजी मेरे प्रति बड़े उदार हैं, उन्होंने प्रारम्भ में मेरे पास कहलवा दिया कि सात तभी बजेंगे, जब आ जाएँगे। यह तो कृपा थी उनकी। नहीं तो आयोजक यही कहा करते हैं कि ध्यान रखिएगा, सात बजे से कथा शुरू होगी, तो सात बजे से आ जाइएगा। विलम्ब होने पर श्रोता वहुधा उलाहना भी देते हैं कि विलम्ब हो गया। पर यह तो संतों की उदारता है। उन्होंने कहा कि जब आप आयेंगे, तभी हम मानेगें कि सात बज गये। कोई हड़बड़ी की आवश्यकता नहीं है। इस समय भी विस्तार यहाँ अधिक हुआ और आप लोगों ने मौन भाव से सुना, मेरे लिये इतना ही यथेष्ट है। इसके बाद की चर्चा कल प्रारम्भ करेंगे। बोलिए सियावर रामचन्द्र की जय ○○○ **(क्रमशः)**

पृष्ठ ३०३ का शेष भाग

एक हो जायेंगे। यह और कुछ नहीं, अपितु यह परम भक्ति अद्वैत वेदान्त ही है। ○○○

तथ्य सूत्र : १. असित मोहन्ती व शिव कुमार दास, "Brahma Padarth : The Unsolved Mystery of Nabakalebara", Sambad English, July १७,२०१५ updated on January ५,२०१७, https://sambad english. com/brahma-padarth-the unsolved-mystery-of-nabakalebara/ **२.** देवेन्द्र ब्रह्मचारी, अमृतधारा, रिसड़ा : प्रेम मन्दिर आश्रम, १४१९ बंगाब्द, पृ. ६२ **३.** डॉ. सिद्धार्थ कानुँगों, "Tantricism in the Cult of Lord Jagannath", Orissa Review (June २००९) : ६३-६४, p ६३ **४.** देवेन्द्र ब्रह्मचारी, अमृतधारा, रिसड़ा : प्रेम मन्दिर आश्रम, १४१९ बंगाब्द, पृ.६२ **५.** वही, पृ.७६-७७ **६.** डॉ. सिद्धार्थ कानुँगों, "Tantricism in the Cult of Lord Jagannath", Orissa Review (June २००९):६३-६४, p६३-६४ **७.** वही, पृ. ६४ ब्रह्मचारी, अमृतधारा, पृ. ६२,७६ **८.** वनमाली माता जी, ऊप असित मोहन्ती व शिव कुमार दास Jagannath Puri : The story behind the temple, its miracles, and the famous Rath Yatra", https://blog.vanamaliashram.org/blog/jagannathpuri असित मोहन्ती व शिव कुमार दास, "Brahma Padarth : The Unsolved Mystery of Nabakalebara", Sambad English, July १७, २०१५ updated on January ५, २०१७, https://sambad english.com/brahma-padarth-the unsolved-mystery-of-nabakalebara/ **९.** असित मोहन्ती व शिव कुमार दास "Brahma Padarth : The Unsolved Mystery of Nabakalebara", Sambad English, July १७, २०१५ updated on January ५, २०१७, https://sambad english.com/brahma-padarth-the unsoloed-mystery-of-nabakalebara/ **१०.** श्रीश्रीरामकृष्ण कथासार, संपादक कृष्ण कुमार नन्दी, कलकत्ता : उद्बोधन २०१६ पृ.१९६-१९९ **११.** छान्दोग्य उपनिषद ८.३.३-६ स्वामी गम्भीरानन्द, सम्पादन व अनुवाद, उपनिषद ग्रन्थावली, भाग-२, छान्दोग्योपनिषद, कलकत्ता : उद्बोधन, पृ.३९०-३९५

मन्दिर शताब्दी विशेष

भारत के मन्दिर और उनकी संरचना

रीता घोष, बेंगलुरु

(इस वर्ष २०२४ में स्वामी विवेकानन्द और स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज की बेलूड़ मठ स्थित मन्दिर स्थापना की शताब्दी के उपलक्ष्य में मन्दिरों से सम्बन्धित आलेख-शृंखला प्रकाशित की जा रही है।)

मन्दिर क्यों तथा भारतीय संस्कृति में इसका स्थान क्या है? मन्दिर शब्द से ही मन में अपार श्रद्धा और भक्ति का भाव उत्पन्न होता है। क्योंकि यह वह स्थान होता है, जहाँ हमें मन की शान्ति और हृदय में पवित्रता का अनुभव होता है। सुख या दुख; किसी भी परिस्थिति में हमें मन्दिर से एक सकारात्मक शक्ति या ऊर्जा के साथ ईश्वरीय कृपा की अनुभूति होती है।

भारत की प्राचीन परम्परा ऋषि-मुनियों के आध्यात्मिक जीवन से जुड़े होने के कारण भारत का जनजीवन या लोकमानस प्रारम्भ से ही ईश्वर और धर्म से प्रभावित रहा है। ईश्वर को सर्वशक्तिमान मानकर उनकी आराधना करना, उनकी कृपा हेतु उनसे प्रार्थना करना, धर्म का एक प्रमुख अंग है। सम्भवत: यही कारण है कि भारत में ईश्वर के निवास-स्थल के रूप में मन्दिरों का विकास हुआ, जहाँ एक धर्म समुदाय के लोग एकत्र होकर ईश्वर से उनकी कृपा हेतु प्रार्थना कर सकें। इस प्रकार मन्दिर लोगों की आस्था और श्रद्धा का केन्द्र बन गया।

'यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' – अर्थात् जो ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड या पृथ्वी पर है। मन्दिर को हिन्दू धर्म में ब्रह्माण्ड के प्रतीक रूप में देखा गया, जहाँ परमात्मा निवास करते हैं। ईश्वरीय चिन्तन को प्रोत्साहित करने के साथ-साथ मन की पवित्रता तथा भक्त की आन्तरिक भावना की प्रक्रिया को गति देने का कार्य मन्दिर करता है। वस्तुत: मन्दिर को भारत के स्वरूप का प्रतीक कहा जा सकता है। भारत में मन्दिर उस चक्र की धुरी के समान है, जिसे केन्द्र बनाकर राजनीति से लेकर आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, कला, शिक्षा आदि देश के सभी आयाम, युगों से आवर्त्तित होते आ रहे हैं। भारत के उत्थान-पतन का प्रमुख कारण भी मन्दिर रहा है। इसलिये मन्दिरों के इतिहास को भारत का इतिहास भी कहा जा सकता है।

प्रसिद्ध लेखिका श्रीमती अनुराधा गोयल ने अपने एक साक्षात्कार में कहा है – ''मन्दिर हमारे लिए एक तरह से भारतीय संस्कृति के सूत्र की खुली पुस्तिका की तरह है, कालखण्ड एवं क्षेत्रखण्ड का प्रतिनिधित्व करता है मन्दिर, हमारे वैभव का चिह्न है यह मन्दिर।''

भारत के चारों दिशाओं अर्थात् पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण; प्रत्येक क्षेत्र में कई प्रसिद्ध एवं प्राचीन मन्दिर पाए जाते हैं। दुख की बात यह है कि इन मन्दिरों में से कई भव्य मन्दिर काल के कराल प्रभाव से ग्रस्त होकर नष्ट हो चुके हैं। कई मन्दिर विधर्मियों के आक्रमण से ध्वस्त हो गए और कुछ मन्दिरों को विधर्मियों ने चर्च या मस्जिदों में रूपान्तर कर दिया। परन्तु आशा की बात यह है कि इतना कुछ होने पर भी सौभाग्य से भारत के कुछ धार्मिक शासकों, दार्शनिकों एवं महान आत्माओं द्वारा बारम्बार इन अनमोल मन्दिरों का पुनरुद्धार किया गया, प्रसिद्ध मन्दिरों को पुन:स्थापित कर भारतीय धरोहर की रक्षा की गयी। भारत को जानने के लिए भारतीय संस्कृति के प्रतीक इन मन्दिरों के विषय में जानना अति आवश्यक है।

मन्दिर शब्द का प्रचलन – मन्दिर शब्द का प्रचलन के विषय में सुनिश्चित रूप से कुछ कहना वास्तव में सम्भव नहीं है, मन्दिर या देवालय, देवगृह, देवस्थान, पूजन-स्थल, उपासनागृह, प्रांगण, मठ आदि सभी शब्दों का अर्थ एक ही स्थान को निर्देशित करता है। आराधना या पूजा-अर्चना के लिए निश्चित किया हुआ स्थान अथवा देवमूर्ति-स्थापित आलय या घर को मन्दिर की संज्ञा दी गयी है।

वैसे मन्दिर का अर्थ है – मन के अन्दर मन रूपी गृह, जहाँ आराध्य का ध्यान-चिन्तन किया जाए एवं इसके द्वारा आत्मिक शक्ति प्राप्त होता हो। भक्त अपने इष्ट का ध्यान, रूप-चिन्तन, लीला-चिन्तन, मानस पूजा आदि मन या हृदय रूपी मन्दिर के गर्भगृह में किया करते हैं। इसलिये प्राचीन काल में मन्दिर को मानव मन के अन्त:स्थल जैसा रूप देने का प्रयास किया गया था।

मन्दिर एवं मठ में अन्तर – मन्दिर को 'आलय' भी कहा जाता है, जैसे शिवालय, जिनालय आदि। परन्तु साधारणत: 'आलय' शब्द का प्रयोग शिव-मन्दिर के लिए किया जाता है। शिवालयों में शिवजी की पूजा होती थी

जबकि 'मन्दिर' या स्तूप ध्यान-प्रार्थना के लिये होते थे। वर्तमान समय में उक्त सभी स्थानों को 'मन्दिर' कहा जाता है जिसमें देव-विग्रह की पूजा होती है।

मठ – मठ वह स्थान है, जहाँ किसी सम्प्रदाय, धर्म या परम्परा-विशेष में आस्था रखनेवाले शिष्य-आचार्य या धर्मगुरु अपने सम्प्रदाय के संरक्षण और संवर्द्धन के उद्देश्य से धर्म ग्रन्थों-शास्त्रों पर चर्चा तथा विचार-विमर्श किया करते हैं। गुरु या आचार्य शास्त्रों की व्याख्या द्वारा शिष्यों का ज्ञानवर्द्धन करते हैं। उदाहरण के लिए बौद्ध-विहारों की स्थापना इसी उद्देश्य से हुई थी। हिन्दू धर्म में 'मठ' शब्द का प्रयोग श्रीशंकराचार्य के काल अर्थात् ७-८वीं शताब्दी से होने लगा। आदिशंकराचार्य ने भारत में चार मठों की स्थापना की –

१. जोशी मठ, उतराखण्ड, उत्तर भारत में।

२. श्रृंगेरी मठ, कर्नाटक, दक्षिण भारत में।

३. गोवर्धन मठ, पुरी, पूर्वी भारत में।

४. शारदा मठ, द्वारका, पश्चिम भारत में।

मन्दिरों का प्रारम्भिक स्वरूप – प्रारम्भ में गुफाओं-कन्दराओं में निवास करने वाले मनुष्य का जीवन प्रकृति के ऊपर निर्भरशील था। प्राकृतिक वस्तुएँ अग्नि, जल, वायु, सूर्य-चन्द्रमा, पर्वत, नदियाँ, झरने, वृक्ष आदि सभी मानव-जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। इसलिये स्वभावत: मनुष्य प्रकृति के प्रति कृतज्ञ होता था। इन्हें प्राकृतिक दैवी शक्ति का स्रोत मानकर मानव इनकी पूजा कर इन्हें प्रसन्न करने का प्रयास करता था। अत: कृतज्ञतावश लोग इन्हें ही अपना उपास्य मानने लगे थे।

वैदिक काल में मन्दिर नहीं होते थे, न ही मूर्ति पूजा का प्रचलन था। प्राचीन ऋषि-मुनि ध्यान, योग, चिन्तन-मनन आदि द्वारा निराकार ब्रह्म की उपासना करते थे। शास्त्रार्थ, शास्त्र-विचार आदि ब्राह्मणों, ज्ञानियों, पण्डितों की आध्यात्मिक चर्चा का विषय हुआ करता था। प्राचीन वैदिक समाज एकत्र होकर एक ही वेदी पर दण्डायमान होकर उस परमात्मा या ब्रह्म के प्रति अपनी कृतज्ञता व समर्पण का भाव व्यक्त किया करता था। वेदों की संरचना के साथ-साथ क्रमश: यज्ञादि का प्रारम्भ होने से यज्ञ द्वारा ईश्वर एवं प्रकृति तत्त्वों का आह्वान कर उन्हें प्रसन्न करने का प्रयास किया जाता था, उनसे प्रार्थना की जाती थी। क्रमश: इस प्रकार एकत्र होने के लिए तथा अन्य सामाजिक क्रियाओं के लिए निर्दिष्ट स्थान की आवश्यकता का अनुभव मानव समाज को होने लगा था। सम्भवत: इसी प्रकार से मन्दिरों का निर्माण प्रारम्भ हुआ।

माना जाता है कि हिन्दू मन्दिर की रचना प्राय: दस हजार वर्ष पूर्व हुई थी। प्रारम्भिक काल के मन्दिरों की संरचना अत्यन्त साधारण हुआ करती थी। इन मन्दिरों में पूजा-पाठ की व्यवस्था नहीं होती थी, न कोई विग्रह होता था। बल्कि यह स्थान शास्त्र-चर्चा वेद-पाठ, ध्यान आदि तथा अन्य सामाजिक कार्यों के लिए व्यवहृत होता था। क्रमश: समय के साथ वेदों के कर्मकाण्ड की प्रधानता बढ़ने से यज्ञादि अनुष्ठित होने लगे। प्राचीन समय में यक्ष, नाग, शिव, दुर्गा, भैरव, इन्द्र और विष्णु की पूजा और प्रार्थना का प्रचलन था, परन्तु शिवलिंग की पूजा प्रारम्भ से ही होती थी। परवर्ती काल में चार धामों और ज्योतिर्लिंगों की स्थापना के साथ-साथ प्रार्थना के लिये सुनिश्चित स्थानों के आवश्यकतानुसार इन स्थानों पर मन्दिरों का निर्माण हुआ।

तत्कालीन शासक वंशों के यश, प्रतिष्ठा तथा आर्थिक सामर्थ्य के अनुसार मन्दिरों का स्वरूप बदलता रहा। रामायण काल में मन्दिर होने के प्रमाण मिलते हैं। श्रीराम का काल आज से ७१२९ वर्ष पूर्व था, अर्थात् ५११४ ईस्वी पूर्व श्रीराम ने रामेश्वरम् में शिवलिंग की स्थापना की थी। अर्थात् उस काल में शिवलिंग की पूजा की परम्परा थी। श्रीराम के समय सीताजी द्वारा गौरी-पूजा करना इस बात का प्रमाण है कि उस काल में देवी-देवताओं की पूजा का महत्त्व था और पूजन-स्थल निवास गृह से पृथक् हुआ करता था।

महाभारत काल में भी कुरुक्षेत्र युद्ध के पूर्व श्रीकृष्ण ने पाण्डवों के साथ गौरी माता के स्थान पर जाकर उनसे विजयी होने की प्रार्थना की थी। इसके अतिरिक्त सोमनाथ के मन्दिर के अस्तित्व का प्रमाण भी ऋग्वेद में मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि भारत में मन्दिरों की परम्परा कितनी प्राचीन रही है।

भारतीय मन्दिरों की विशेषताएँ – भारत के मन्दिर भारतीय सभ्यता के अप्रतिम इतिहास का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। भारत की विविधता इन मन्दिरों की संरचनाओं में देखने को मिलती है। विकास क्रम के साथ मन्दिरों की संरचना में परिवर्तन होने लगा और स्थानीय शिल्पकला तथा तत्कालीन सामाजिक व धार्मिक जीवन की छवि विभिन्न प्रान्तों के मन्दिरों में अंकित की जाने लगी। इसलिये मन्दिर किस काल खण्ड

में बना, किस शैली में बना, किस राजवंश ने बनवाया, ये सब बातें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि ये हमारी सभ्यता के इतिहास के एक स्त्रोत हैं। भारतीय मन्दिरों की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं –

१. संस्कृति एवं स्मृद्धि का परिचायक – भारतीय सभ्यता का मूलभूत विकास सिन्धुघाटी सभ्यता से हुआ। प्राचीन सिन्धुघाटी सभ्यता अति विरल एवं उच्चकोटि सभ्यता का उत्कृष्ट उदाहरण है। अपने विकास के क्रम में भारतीय सभ्यता आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक खगोलीय, वास्तुशास्त्र आदि सभी विषयों में सम्पूर्ण विश्व में उच्चकोटि के स्तर पर थी, जिसके प्रमाण भारत के विभिन्न प्रान्तों, प्रदेशों के स्थापत्य भवनों एवं मन्दिरों में आज भी द्रष्टव्य हैं। रामायण-महाभारत के काल से चलकर बुद्ध, शंकर की पीढ़ियों को पार करते हुए विभिन्न शासकों द्वारा अपने-अपने समय में उनके वैभव, उनकी रुचि, समृद्धि भौगोलिक-खगोलीय तथा वास्तु ज्ञान के आधार पर विभिन्न शैलियों के मन्दिरों का निर्माण कराया गया। उदाहरण के लिए कोणार्क का सूर्य मन्दिर, एलोरा, गुफाओं के मन्दिर तथा दक्षिण भारत के तिरूनिलवल्लीय का मन्दिर उल्लेखनीय है।

कोणार्क सूर्य मन्दिर – उड़िसा राज्य के कोणार्क में स्थित सूर्य मन्दिर वास्तु कला एवं खगोलीय ज्ञान का अद्भुत निदर्शन है। १३वीं शताब्दी में राजा नरसिंहदेव प्रथम द्वारा इसका निर्माण कराया गया। इस मन्दिर में सूर्य की किरणें इस प्रकार से पड़ती हैं कि बिना किसी घड़ी के भी दिन के समय का ज्ञान सटीक रूप से लगाया जा सकता है। इस मन्दिर को रथ के आकार का बनाया गया है, जिसमें १२ जोड़ी पहिए हैं, जो बारह महीनों के प्रतीक हैं। १९८४ में यूनेस्को ने इस मन्दिर को विश्व धरोहर स्थल के रूप में मान्यता दी है।

कैलाश मन्दिर, एलोरा – औरंगाबाद जिले में स्थित एलोरा गुफाओं की १६ नं. गुफा में स्थित कैलाश मन्दिर भारत के सबसे प्राचीन मन्दिरों में से एक है। कैलाश मन्दिर का निर्माण आठवीं शताब्दी में राष्ट्रकूट वंश के नरेश कृष्ण प्रथम के द्वारा किया गया था। इस मन्दिर के निर्माण के लिए लगभग ४० हजार टन वजनी पत्थरों के चट्टानों को काटा गया था, जो प्राचीन भारतीय इंजीनियरिंग का अद्भुत चामत्कारिक कौशल का उदाहरण प्रस्तुत करता है। विशाल, आकार, अद्भुत वास्तुकला तथा अपूर्व नक्काशियों में प्रयोग किये रंग आज भी उज्ज्वल दीख पड़ते हैं। अखण्ड स्तम्भों पर जानवरों तथा देवताओं की मूर्तियों पर अत्यन्त सुन्दर कारिगरी उस समय के शासकों की रुचि एवं समृद्धि को दर्शाती है।

३. नैलायप्पर मन्दिर – दक्षिणभारत में तमिलनाडु के तिरूनिलवल्लीय में नैसायप्पर मन्दिर एक अद्भुत निर्माण-कला का उदाहरण है। इस मन्दिर के स्तम्भों से संगीत की धुनें निकलती हैं। इस कारण इस मन्दिर को संगीत स्तम्भ मन्दिर भी कहा जाता है। ७वीं शताब्दी में इसका निर्माण पाण्डवों द्वारा हुआ है, ऐसी मान्यता है। इसमें १६१ खम्भे हैं, जिनसे संगीत के सात सुरों की ध्वनि निकलती है, जिसका विश्लेषण आज भी वैज्ञानिक नहीं कर पाए हैं।

२. मन्दिर की देव-मानव शरीर के रूप में कल्पना – प्राचीन भारतीय साहित्य या ग्रन्थों में मन्दिर को भगवान के सम्पूर्ण शरीर की तरह माना गया है, जिसके कारण मन्दिर के विभिन्न भागों को भगवान के मस्तक, हृदय, पाद, जंघा आदि की संज्ञा दी गई है।

हिन्दू मन्दिर में अन्दर एक गर्भ-गृह होता है, जिसमें मुख्य विग्रह या देवता की मूर्ति को स्थापित किया जाता है। गर्भ-गृह के ऊपर की संरचना को शिखर या विमान कहा जाता है। इसी प्रकार गर्भगृह से जुड़ा अन्तराल, अर्द्धमण्डप, महामंडप, ध्वजस्तम्भ, गोपुरम् आदि मन्दिर संरचना के अन्तर्गत आते हैं। देव-मानव शरीर की संरचनानुसार मन्दिर के गर्भ-गृह को मानव मस्तक, अन्तराल को मानव गर्दन के जैसा माना गया है। अर्द्धमण्डप की तुलना मानव की छाती से की जाती है। महामण्डप (मुख्य हॉल) पेट के जैसा है। ध्वज-स्तम्भ को पुरुष-अंग तथा गोपुरम् या मन्दिर के प्रवेश द्वार की तुलना पैरों से की जाती है। इस प्रकार सम्पूर्ण मन्दिर परिसर की तुलना मानव-शरीर से की गयी है, जिसमें भगवान निवास करते हैं।

मन्दिर के गर्भ-गृह में स्थापित विग्रह या छवि का आभासी विस्तार रूप ही मन्दिर है। पत्थर, धातु या लकड़ी द्वारा दिया गया भगवान का रूप वास्तव में एक विचार, अवधारणा या भगवान की मानसिक छवि है, जिसे मनुष्य अपनी श्रद्धा भक्ति के द्वारा ईश्वरत्व में प्रतिष्ठित करता है। मन्दिर का केन्द्र या गर्भ-गृह दिव्यता और पवित्रता का स्थान है। इसलिये यह सबसे महत्त्वपूर्ण होता है।

भारतीय वास्तुकला संरचनात्मक, सामंजस्य, लय और अनुपात के कुशल ज्ञान से समृद्ध है। माना जाता है कि संरचना की शक्ति और पवित्रता उसके सटीक अनुपात और

माप से झलकती है, जिसका ग्रंथों में उल्लेख मिलता है। सावधानीपूर्वक निर्मित मन्दिर शान्ति और आनन्द का संचार करता है और संसार के लिए कल्याणप्रद होता है। अत: यह एक सुगठित सुन्दर व्यक्ति की विशेषताओं और अंगों के मध्य सटीक सम्बन्ध के अनुरूप है।

मन्दिर में भक्त गोपुरम् (प्रवेश द्वार), जिसे भगवान का चरण माना गया है, उसके नीचे से होकर मन्दिर में प्रवेश करता है। वह कई द्वारों, आँगनों और प्रकारों से होकर गुजरता है और मन्दिर के हृदय अर्थात् गर्भगृह की शान्ति में रहने वाले भगवान के समक्ष स्वयं को समर्पित कर देता है।

३. सकारात्मक ऊर्जा का केन्द्र मन्दिर – हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों के प्रगाढ़ भौगोलिक ज्ञान को विशेष रूप से मन्दिरों के निर्माण के लिए उपयोग किया गया था। प्राचीन समय में जितने भी मन्दिर बनाए गए हैं, वे सभी धनात्मक (पोजिटिव) ऊर्जा के क्षेत्र का केन्द्र हुआ करते थे। इस प्रकार ये सभी मन्दिर आकाशीय ऊर्जा धारण करने के साथ सकारात्मक शक्ति पैदा करते हैं।

अनेकों प्राचीन मन्दिर ऐसे स्थानों पर या पर्वतों पर बनाए गए हैं, जहाँ से चुम्बकीय तरंगे घनीभूत होकर गुजरती हैं। इस प्रकार के स्थानों पर बने मन्दिरों में प्रतिमाएँ ऐसे स्थानों पर रखी जाती थीं, जहाँ चुम्बकत्व का प्रभाव अधिक हो। यहीं पर ताम्बे के छत्र और ताम्बे के पाट रखे जाते थे और आज भी कुछ स्थानों पर ये रखे होते हैं। ताम्बा बिजली और चुम्बकीय तरंगों को अवशोषित करता है। इसलिये मन्दिर में स्थापित मूर्ति की परिक्रमा यदि घड़ी की चलने की दिशा में की जाती है, तो मानव उस ऊर्जा को अवशोषित करता है। इस प्रकार उसे मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य का लाभ मिलता है। धीमी प्रक्रिया होने पर भी इससे मस्तिष्क में सकारात्मक ऊर्जा का विकास होता है। इसीलिए भारतीय समाज में प्राचीन काल से मन्दिर जाने एवं परिक्रमा करने की रीति को महत्त्व दिया जाता है।

४. मन्दिर शिखर का विशेष महत्त्व – भारतीय मन्दिरों में शिखर होता है अथवा यह पिरामिडनुमा आकृति में निर्मित होता है। प्राचीन समय में ऋषि-मुनियों की कुटिया भी इसी आकृति में बनती थी। इसका कारण यह था कि ऐसी आकृति मन:संयम और एकाग्रता के लिए सहायक होती है। इसके अतिरिक्त मन्दिर की आन्तरिक संरचना से प्राप्त होनेवाली सकारात्मक ऊर्जा तथा मन्त्रोच्चारण द्वारा उत्पन्न ध्वनि, ॐकार ध्वनि आदि जब ऊपर उठती है, तो मन्दिरों के इन शिखरों से टकराती है। नुकीला शिखर इस ध्वनि तथा ऊर्जा को पुन: नीचे की ओर प्रेषित करता है। ये परावर्तित ऊर्जा एवं ध्वनि तंरगें मानव-शरीर में प्रवेश कर उसे सकारात्मक शक्ति एवं आनन्द से पूर्ण करती हैं। इसलिये मन्दिर के भीतरी वातावरण के साथ मानव के मन एवं शरीर में सामंजस्य स्थापित होने पर व्यक्ति अपार शान्ति, आनन्द और उत्साह का अनुभव करता है।

५. मन्दिर की घंटी – मन्दिरों में घंटी लगाने का भी विशेष कारण है। प्राचीन मन्दिरों की दीवारों पर बनी मूर्तियाँ, भित्तिचित्र आदि द्वारा ज्ञात होता है कि प्राचीन काल से ही मन्दिरों में घंटियाँ लगाई जाती थीं। प्रथमत: घण्टी का प्रयोग लोगों को एकत्र करने के लिए किया जाता था। इसके अतिरिक्त घण्टी की ध्वनि से उत्पन्न सकारात्मक ऊर्जा वातावरण को शुद्ध तथा पवित्र बनाती है। घंटी की ध्वनि सृष्टि के प्रारम्भ से उठनेवाली उस नाद-ध्वनि का प्रतीकात्मक रूप है, विशेष धातुओं से निर्मित घंटी नकारात्मक शक्तियों को दूर करती है और शान्ति एवं समृद्धि की वृद्धि करती है। मन्दिर में प्रात: तथा संध्या में ही घंटी बजाने का नियम है।

६. समय का महत्त्व – हिन्दू मन्दिरों में जाने के लिये समय निश्चित होता है। दिन-रात की संधि को तत्त्वदर्शी मुनियों ने सन्ध्या काल माना है। सन्ध्या-वन्दन या 'सन्ध्योपासना' का समय निश्चित होता है। संधि का समय ५ बार माना गया है, किन्तु प्रात:काल और सन्ध्या; इन दोनों समय की संधि प्रमुख होती है। अर्थात् सूर्योदय तथा सूर्यास्त का समय माना जाता है कि मन्दिर जाने के लिए यही समय सर्वथा उपयुक्त है। दोपहर १२ बजे से अपराह्न ४ बजे तक मन्दिर में जाना निषेध रहता है।

७. वास्तु का महत्त्व – चूँकि प्राचीन मन्दिरों को ध्यान-आत्म-चिन्तन-मनन एवं अध्ययन के केन्द्र के रूप में स्थापित किया गया था। अत: इन मन्दिरों के निर्माण और संरचना में वास्तु शिल्प का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान था। वास्तुशास्त्र के नियमानुसार प्रकाश, ध्वनि, आयतन का प्रबंधन आदि मन्दिरों की संरचनात्मक सुन्दरता, स्थायित्व तथा गुणवत्ता की वृद्धि में सहायक होती है। भौगोलिक दृष्टि से भी चुम्बकीय क्षेत्र, सकारात्मक ऊर्जा का क्षेत्र तथा मन्दिर की दिशा आदि की मुख्य भूमिका होती थी। प्रतिष्ठित विग्रह के स्थापनानुसार मन्दिरों को पश्चिम, दक्षिण, आग्नेय या नैऋत्यमुखी बनाया जाता था। अधिकांशत: ये मन्दिर शिवालय, समाधिस्थल, शक्तिपीठ या विशिष्ट देव-देवी के

पूजा स्थल हुआ करते थे।

मन्दिर उत्तर या ईशानमुखी होने के कारण ईशान से आनेवाली ऊर्जा का प्रभाव ध्यान-प्रार्थना आदि के लिए अति उत्तम परिवेश या वातावरण का निर्माण करता है। पूर्वमुखी मन्दिर के प्रवेश द्वार और गुम्बद की रचना पर विशेष ध्यान दिया जाता था। ध्यान या प्रार्थना के लिये बनाए गए मन्दिरों के स्तम्भों अथवा दीवारों में पूजा-पाठ नहीं होता था। उदाहरण के लिए खजुराहो, अजन्ता-एलोरा, कोणार्क या दक्षिण भारत के कुछ प्राचीन मन्दिरों की संरचना इस प्रकार की है।

कालान्तर में रोमन, चीन, अरब और यूनानी वास्तु कला के प्रभाव से भारतीय मन्दिरों के वास्तु में परिवर्तन होने लगा।

८. मन्दिर स्थापत्य शैली – भारतीय मन्दिरों की स्थापत्य शैली का विषय अध्ययन के लिए गहनतम विषय है। भारत में जितनी विविधताएँ हैं, उतनी ही प्रकार की विविधताएँ यहाँ के मन्दिरों की स्थापत्य शैली में भी हैं। मन्दिर वास्तुकला की शैली छठवीं शताब्दी तक उत्तर एवं दक्षिण भारत की प्राय: एक समान थी। परन्तु छठवीं शताब्दी के बाद से भारतीय संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में विकास होने के कारण यहाँ के स्थापत्य शैलियों में भी भिन्नताएँ दीखने लगीं। संरचनात्मक मन्दिरों के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार के मन्दिर-निर्माण किए गए, जो चट्टानों को काटकर बनाए गए थे। महाबलिपुरम् का रथ-मंडप जो पाँचवीं शताब्दी में बना था, इसका अनुपम उदाहरण है। प्राचीन ग्रन्थों में मन्दिर स्थापत्य सम्बन्धी कुछ नामों का उल्लेख मिलता है – पंचायतन, भूमि, विमान, भद्ररथ, कर्णरथ एवं प्रतिरथ आदि।

प्राचीन हिन्दू-धर्म के मन्दिरों के निर्माण में मुख्यत: तीन प्रकार की स्थापत्य शैलियाँ पाई जाती हैं – नागर, द्रविड़ एवं बेसर।

(क) नागर शैली – उत्तर भारत के शासक वंशों द्वारा आठवीं से तेरहवीं शताब्दी के बीच इस शैली का प्रयोग किया गया। इस शैली में मन्दिर आधार से शिखर तक चतुष्कोणीय होते हैं। उदाहरण के लिए खजुराहों के मन्दिर नागर शैली में निर्मित हैं। इस शैली में गर्भ-गृह उसके समक्ष क्रमश: अन्तराल, मण्डप तथा अर्द्धमण्डप होते हैं। उत्तर भारत में नर्मदा नदी के उत्तरी क्षेत्र में, मध्यप्रदेश, राजस्थान, गुजरात, ओड़िसा, झारखण्ड, बिहार, महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश के क्षेत्रों में इस शैली के मन्दिर पाए जाते हैं। वर्तमान समय में अयोध्या में राम-मन्दिर का निर्माण नागर शैली में किया गया है।

(ख) द्रविड़ शैली – कृष्णा नदी से लेकर कन्याकुमारी तक द्रविड़ शैली के मन्दिर पाए जाते हैं। इस शैली का प्रारम्भ आठवीं शताब्दी में पल्लव राजवंश द्वारा किया गया था। चोल वंश के शासन-काल में द्रविड़ शैली के अन्तर्गत वास्तुकला के साथ मूर्तिकला और चित्रकला को सम्मिलित किया गया। चोल शासक राजराज द्वारा निर्मित तंजावर (तंजौर) का बृहदेश्वर मन्दिर (१००० वर्ष प्राचीन) द्रविड़ शैली का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है। द्रविड़ शैली के अन्तर्गत 'नायक' शैली का विकास हुआ, जिसका उदाहरण मीनाक्षी मन्दिर (मदुरै) श्रीरंगनाथ मन्दिर (श्रीरंगम, तलिमनाडू) तथा रामेश्वरम् मन्दिर (रामेश्वरम्) है।

(ग) बेसर शैली – बेसर शैली को चालुक्य शैली भी कहा जाता है। इस शैली के मन्दिर विन्ध्याचल पर्वत से लेकर कृष्णा नदी तक पाये जाते हैं। बेसर शैली के मन्दिरों का आकार आधार से शिखर तक गोलाकार व वृत्ताकार अथवा अर्द्धगोलाकार होता है। वृन्दावन का वैष्णव मन्दिर जिसमें गोपुरम् बनाया गया है, इस शैली का उदाहरण प्रस्तुत करता है।

९. उत्तर भारतीय तथा दक्षिण भारतीय मन्दिर शैली – निर्माण के प्रारम्भिक अवस्था में मन्दिर अपने विन्यास में बहुत साधारण होते थे। क्रमश: समय चक्र के परिवर्तन के साथ स्थापत्य का विकास होने के कारण मन्दिरों के निर्माण में विविधताएँ दिखने लगीं।

उत्तर भारतीय मन्दिर शैली में मन्दिर एक चबूतरे पर स्थापित होता था, जिसे जगती कहा गया है। इस पर जाने के लिए सीढ़ियाँ होती थीं। जगती के ऊपर मध्य में मुख्य मन्दिर होता था और उसके चार कोनों पर चार छोटे-छोटे देवालय हुआ करते थे। गर्भ गृह के ऊपर एक रेखीय शिखर प्राय: तीन उभारों से संयोजित होता था, जिसमें मध्य के उभार को भद्र रथ, किनारे के उभार को कर्ण रथ तथा इसके बीच के उभार को प्रतिरथ की संज्ञा दी गई थी। शिखर का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग सबसे ऊपर लगा अमलक (कलश) होता था, जो उत्तरी भारतीय मन्दिरों की पहचान बताई जाती है। उत्तर पूर्वी भारतीय प्रमुख मन्दिरों के कुछ नाम हैं –

केदारनाथ, बद्रीनाथ (उत्तराखण्ड), अमरनाथ गुफा, वैष्णो देवी मन्दिर (जम्मू), काशी विश्वनाथ मन्दिर (वाराणसी), सारनाथ बौद्ध मन्दिर (सारनाथ), स्वर्ण मन्दिर (अमृतसर), बांके बिहारी मन्दिर (मथुरा), दिलवाड़ा जैन मन्दिर (माउण्ट आबू), अक्षरधाम मन्दिर (दिल्ली), कामाख्या

मन्दिर (असम), वैद्यनाथ मन्दिर (झारखण्ड), दक्षिणेश्वर काली मन्दिर (पं. बंगाल), बेलूड़ मठ मन्दिर (पं.बंगाल), मध्य भारत में पाए जाने वाले प्रमुख मन्दिरों के नाम हैं – महाकालेश्वर (उज्जैन), ओंकारेश्वर (खंडवा), कंदारिया महादेव (खजुराहो), भरत मिलाप मन्दिर (चित्रकूट), अन्नपूर्णा मन्दिर (इन्दौर)।

दक्षिण-पश्चिम भारतीय प्रमुख मन्दिरों के नाम इस प्रकार हैं – विरूपाल मन्दिर (कर्नाटक), महाबलेश्वर मन्दिर (कर्नाटक), सबरीमाला मन्दिर (केरल), श्रीपद्मनाभ स्वामी मन्दिर (तमिलनाडू) बृहदेश्वर मन्दिर (तमिलनाडू), बेंकटेश्वर स्वामी मन्दिर (आन्ध्रप्रदेश) बराई लक्ष्मी नरसिंह मन्दिर (आन्ध्रप्रदेश), रंगनाथ स्वामी मन्दिर (आन्ध्रप्रदेश), सहस्र स्तम्भोंवाला मन्दिर (तेलंगाना).

अन्य मन्दिर – द्वारकाधीश मन्दिर (गुजरात), सोमनाथ मन्दिर (गुजरात) सिद्धिविनायक मन्दिर (मुम्बई) , शिरडी साई मन्दिर (महाराष्ट्र).

१०. विविध भारतीय स्थापत्य शिल्प का अपूर्व समन्वय रामकृष्ण मन्दिर, बेलूड़ मठ, हावड़ा – पश्चिम बंगाल के कोलकाता शहर में स्थित बेलूड़ मठ में श्रीरामकृष्ण मन्दिर भारतीय स्थापत्य शिल्प कला का अद्‌भुत अभूतपूर्व निदर्शन प्रस्तुत करता है। बेलूड़ मठ की स्थापना स्वामी विवेकानन्द ने की थी। इस मन्दिर की स्थापत्य शैली की परिकल्पना भी स्वामी विवेकानन्द ने ही की थी। इस मन्दिर का निर्माण स्वामी विज्ञानानन्द जी ने किया था। अपने भारत परिक्रमा के दौरान स्वामीजी ने भारत के विभिन्न राज्यों एवं प्रान्तों में भ्रमण करते हुए वहाँ के महलों-मन्दिरों के भव्य स्थापत्य-कला कृतियों का बारीकी से अध्ययन किया था। तत्पश्चात् बेलूड़ मठ में मन्दिर की परिकल्पना करते समय इन्हीं विविध शैलियों का अत्यन्त कुशलतापूर्वक समन्वय करते हुए मन्दिर-निर्माण में इसका प्रयोग किया। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि अपने गुरु श्रीरामकृष्ण देव के समन्वय भाव को स्वामीजी ने मठ-मन्दिर के रूप प्रतिस्थापित कर उसे वास्तविक रूप प्रदान किया। बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, दिल्ली, गुजरात, महाराष्ट्र, केरल, कर्नाटक, तमिलनाडु आदि सभी राज्यों के प्राचीन मन्दिर, स्मारकों की विशेषताओं के साथ ही यूरोप, अमेरिका आदि देशों के आधुनिक, मध्यकालीन और पुनर्जागरण के समय की शैलियों के स्थापत्य को इस मन्दिर के निर्माण में सकुशल जोड़ा गया है।

मन्दिर के छज्जों की वक्रता बंगाल के विष्णुपुर के मन्दिरों जैसा है। शीर्ष जोधपुर और उदयपुर के महलों के अनुरूप है। मन्दिर का अग्रभाग गोपुरम द्वार का स्मरण करवाता है। यद्यपि गोपुरम द्वार मुख्य मन्दिर से अलग होते हैं। दूसरी ओर नाट मन्दिर और गर्भ मन्दिर चर्च के अनुरूप बनाए गए हैं, जो संयुक्त हैं। गर्भ मन्दिर के ऊपर गुम्बददार छत बनाया गया है, जो इस्लामी वास्तुकला के अनुसार प्रतीत होता है। मन्दिर के शीर्ष पर केन्द्रीय मंडप की संरचना नासिक, अजन्ता महाराष्ट्र के गुफा मन्दिरों की प्रवेश संरचना के साथ समानता रखती है। प्रत्येक छोर पर दोहरे स्तम्भ पर घोड़े के नाल का मेहराब साँची स्तूप द्वार में प्रयुक्त धर्मग्रंथ का प्रतीक है। प्रवेश द्वार पर कमल तथा शिवलिंग हिन्दू धर्म से है। प्रवेश द्वार के दोनों ओर की खिड़कियाँ मुगल तथा राजपूत महलों जैसा आभास देती हैं, ऊपर के बीम की सजावट दक्षिण भारती मन्दिरों जैसी है। मन्दिर के साथ परिक्रमा पथ गुम्बदों और मण्डपों की सुन्दर पिरामिड संरचना से युक्त हैं। यहाँ नौ ग्रहों की जालीदार मूर्तियों द्वारा प्रदक्षिणा को उजागार किया गया है, जैसाकि हिन्दू मन्दिरों में पाया जाता है।

इस प्रकार समग्र रूप से बेलूड़ का यह श्रीरामकृष्ण मन्दिर समन्वय का अनुपम उदाहरण है।

उपसंहार – इतिहास के पृष्ठों में विकास के विभिन्न पहलुओं से गुजरता हुआ हिन्दू मन्दिर भारत की सभ्यता और इसकी प्रगति का अनुपम चित्र और विवरण हमारे

समक्ष प्रस्तुत करता है। इन मन्दिरों के पत्थर न जाने कितनी घटनाओं एवं कई उत्थान-पतन के साक्षी रहे हैं। वास्तव में उत्तर के हिमालय से लेकर दक्षिण के कन्याकुमारी तक विस्तृत विभिन्न मन्दिरों की बहुलता को देखते हुए भारत को 'मन्दिरों का देश' कहा जाना समुचित ही होगा। यहाँ के कई मन्दिर और आश्रम ज्ञान-विज्ञान, अध्यात्म, ज्योतिष, खगोल, आयुर्वेदिक आदि विभिन्न विषयों में अध्ययन तथा चर्चा के अति उन्नत मानक-केन्द्र के रूप में सम्पूर्ण विश्व में श्रेष्ठ एवं मर्यादित स्थान रखते थे।

सामाजिक जीवन में भी मन्दिर का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता था। प्राचीन ग्रामों के केन्द्र में एक मन्दिर हुआ करता था, जो सम्पूर्ण ग्राम के निवासियों को आपस में संगठित रहने के लिए प्रेरित करता था। ग्रामवासी यहाँ एकत्र होकर प्रार्थना करते थे, जिससे उनमें आपसी एकत्व का भाव बना रहता था। क्रमशः बौद्धकाल के समय बुद्ध तथा महावीर की मूर्तियाँ बनाई जाने लगीं तथा इन मूर्तियों को अपार जन समर्थन मिला, जिससे प्रभावित होकर हिन्दू धर्म के भक्त राम तथा कृष्ण की मूर्तियाँ बनाने लगे। इस प्रकार से मूर्तिकला का प्रादुर्भाव हुआ। आगे चलकर हिन्दू धर्म में अन्य देव-देवियों की मूर्तियाँ बनाने तथा उन्हें पूजने की प्रथा का चलन १६६९ ई. में बाहरी शत्रुओं के आक्रमण के दौरान औरंगजेब के शासनकाल में विग्रह की रक्षा के उद्देश्य से एवं मन्दिर की सुरक्षा की दृष्टि से बन्द मंदिर बनाए जाने लगे। साथ ही विनम्रता की भावना एवं सुरक्षा की दृष्टि से मन्दिरों के द्वार को नीचा रखने का भी प्रचलन हुआ। इस प्रकार समय तथा परिस्थिति के आवश्यकतानुसार मन्दिरों के निर्माण का रूप परिवर्तित होता रहा।

वर्तमान समय में केवल भारत ही नहीं; बल्कि विदेशों में भी कई भव्य हिन्दू मन्दिरों का निर्माण हुआ है, जो भारतीय शिल्पकला की विशिष्टता का परिचय देते हैं। इसी क्रम में उल्लेखनीय है – वर्तमान में भारत के उत्तर प्रदेश में अयोध्या में नवनिर्मित 'राम मन्दिर'। इस मन्दिर को भारत की सम्पन्नता, समृद्धि, सुसंस्कृति, कला एवं कुशलता की अपरिसीम उन्नति पर पहुँचने की ओर एक अभिनव कदम कहा जा सकता है। यह मन्दिर युगान्तरकारी क्रान्ति उत्पन्न कर एक बार पुनः समग्र हिन्दू धर्मावलम्बियों को आपस में जुड़ने तथा उनकी धार्मिक चेतना को जाग्रत करने में सफलता का अनुपम निदर्शन है।

अन्त में स्वामी भूतेशानन्द जी द्वारा मन्दिरों के विषय में दिए गए उद्‌गार उल्लेखनीय हैं – 'जो लोग धर्म-जीवन का रसास्वादन ले चुके हैं, वे सभी लोग इतनी आन्तरिकता के साथ मन्दिर जाकर भगवान के नाम का स्मरण करते हैं। इससे लगता है कि मन्दिर की आवश्यकता है ही। अनुकूल परिवेश में स्थान-माहात्म्य के कारण सहज ही भक्त का मन भगवान की ओर दौड़ने लगता है। साधकगण जिस स्थान पर साधन कर चुके हैं, उस स्थान पर जाने से भक्त सहज ही प्रेरणा प्राप्त करते हैं। सहज ही मनुष्य का मन पवित्र हो जाता है।'' (अमृतकथा पृष्ठ १२४)

मन्दिरों के पुण्य प्रभाव को केवल भारतीय ही नहीं, बल्कि दूसरे देशों के लोग भी मानते हैं। विश्व के कई प्रसिद्ध लोगों का मानना है कि मन्दिरों में प्रार्थना के पश्चात् उनके जीवन में कई परिवर्तन आ गए। इस प्रकार आस्था एवं श्रद्धा को मानव मन में दृढ़ करने के साथ ही जन-जागरण के केन्द्र के रूप में भी भारतीय जन जीवन को मन्दिर प्रभावित करने में सक्षम रहा है। यह बात अनेक बार प्रमाणित हो चुकी है। अतः मन्दिरों की महत्ता स्वयंसिद्ध है। ○○○

सन्दर्भ सूत्र : १. विकिपीडिया २. प्रश्नोत्तर हिन्दुधर्म – स्वामी हर्षानन्द ३. Temple tales by Anuradha Goyal

कविता

करूँ वन्दना गुरु की निसदिन

डॉ. ओमप्रकाश वर्मा

करूँ वन्दना गुरु की निसदिन, करते जो भवसागर पार ।
घन अज्ञान-विभेदन करते, करते ज्ञानप्रकाश-प्रसार ।।
सकल सृष्टि में जो व्यापक है, सच्चित्सुख का जो आगार।
उसी ब्रह्म का दरस कराते, वे गुरु परम कृपा-अवतार।।
ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर गुरु हैं, हरते हैं भवरोग-विकार ।
विमल भक्ति-वैराग्य-प्रदायक षड्रिपु का करते संहार ।।
गुरु की कृपा प्राप्त करके जो, करता जग में कर्म-विहार।
माया-मोह उसे नहिं व्यापे, लिप्त नहीं होता संसार ।।
योग-भोग के वही प्रदाता, सदा निरत वे ब्रह्म-विचार ।
भवबन्धन का खंडन करके, जीवन का करते उद्धार ।।
गुरु आनन्दकन्द सुख-सागर, करते वे भवदुःख-निवार ।
अघनाशक गुरु से विनती है, दें चरणों में भक्ति अपार ।।

हमारा सब कुछ ठाकुर का है, अपना कुछ भी नहीं

स्वामी सत्यरूपानन्द

पूर्व सचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

हमारा सब कुछ ठाकुर का है, हमारा कुछ नहीं है। यह भाव हमें अपने मन में दृढ़ करना है। हमको यही अभ्यास करना है। हमें यह सोचना चाहिए कि हम ठाकुरजी के दास हैं। हम दास तो ठाकुरजी के हैं, पर हम स्वयं को स्वामी समझते हैं। हमारा अहम् इतना सबल है, वह हमें सहज सरल होने ही नहीं देता। हमें तो सतत भगवान के चिन्तन में ही लगे रहना है और अपने प्रारब्ध से जो भी हमें काम मिला है, उसे अत्यन्त सावधानी से नियमित आनन्द से करना है।

सामान्य लोगों से अधिक योग्यता भगवान ने हमें दी है, तो वह भगवान की कृपा से मिली है। हम साधना करते हैं, तो भगवान हमारी सर्वांगीण रक्षा करते हैं। नियमित ठाकुरजी को भोग लगावें और प्रार्थना करें कि भगवान तुम्हारा यह प्रसाद खाकर हमारा कल्याण हो। हम तुम्हारे चरणों में निर्भर रहें। ठाकुरजी का प्रसाद खाने से मन में शुद्धि आती है। प्रसाद का अर्थ है समर्पण। सब कुछ समर्पण बुद्धि से करो। ईश्वर की इच्छा न हो, तो हम कुछ नहीं कर सकते। भगवान की इच्छा में अपनी ईच्छा को मिला दो।

हमें कर्म बदलने का बिलकुल प्रयत्न नहीं करना चाहिए। हमें कर्म के प्रति भाव बदलना है। मैं जो कुछ भी हूँ, अपने कर्मों के कारण ही हूँ। जो भी हमको मिला है, वह अपने कर्मों के कारण मिला है। संसार में कोई भी कर्महीन नहीं है। सभी लोग कुछ न कुछ करते रहते हैं। कर्म करते समय अपनी अहम् बुद्धि को मिटाना है। प्रत्येक कर्म को ईश्वर की इच्छा समझनी है। जहाँ हमारा अहम् नहीं है, वह कर्म हमें मुक्ति की ओर ले जाता है। सहज काम भी हमें कठिन लगता है, तो वह अहंकार है और कठिन काम भी सहज हुआ, तो समझना भगवान की इच्छा से हुआ है।

जब तक जीवन में मेरा-मेरा रहेगा, तब तक बहुत कष्ट होगा। संसार का सब कार्य कठिन से कठिन और सरल कार्य भी भगवान का नाम लेकर करना है। हर काम में 'मैं' नहीं, 'तुम' ऐसा भाव रखना चाहिए। जीवन में ऐसा समय आयेगा कि हमारा पूर्ण जीवन साधनामय हो जाएगा। हमारे जीवन की कठिनाई अहंकार है। कर्म हमें अपना परिणाम देता है। भगवान की शरणागति बिना जो कार्य करेंगे, उसमें अहंकार आ जायेगा। भगवान की प्राप्ति के लिये कोई विशेष कर्म करने की आवश्यकता नहीं है। कर्म का फल सुख और दुख के बिना हो ही नहीं सकता। कर्ताभाव रखने से हम बन्धन में पड़ जाते हैं। समर्पण बुद्धि से करने से हम मुक्त हो जाते हैं। मूल बात यह है कि हमें अपने कर्म से अपने अहंकार को हटाना है।

मैं कर रहा हूँ, ऐसा जब हम सोचते हैं, तो हम बन्धन में पड़ जाते हैं। हम मानसिक रूप से जड़ हैं। जिसको हमारा मन और इन्द्रियाँ स्वीकार करते हैं, उसको रुचि कहते हैं। हमें अपने जीवन में उन्नति और प्रगति के लिए शरीर से ऊपर उठना है। जीवन की सर्वांगीण उन्नति करने के लिए हमारा मन ही मुख्य है। जब हमारे जीवन में भी अस्वाभाविक क्रियाएँ चलती रहती हैं, तब हमारा मन चंचल होता है। इसलिये हमें अपने चरित्र को समझने के लिए मन की ओर ध्यान देना है। जिनके जीवन में आध्यात्मिक उन्नति हुई है, उनकी मृत्यु का डर निकल जाता है। जीवन-मुक्ति का अनुभव हमें जीते-जी करना है।

समय का सदुपयोग करना व्यक्ति के हाथ में है। अपने मन की माया से बचना चाहिए। हम बहुत-सी चीजें चाहते हैं, लेकिन उससे तृप्ति नहीं मिलती है। तृप्ति तो भगवान के नाम से ही आयेगी। ○○○

साकार रूप में ईश्वर के दर्शन किए जा सकते हैं, उनका स्पर्श किया जा सकता है; जैसे मित्र के साथ बातचीत की जाती है वैसे ही उनके साथ प्रत्यक्ष सम्भाषण किया जा सकता है।

– श्रीरामकृष्ण देव

गुरु-पूर्णिमा विशेष

गुरु-शिष्य परम्परा : शिक्षा-ग्रहण करने की पवित्र परम्परा

श्रीमती मिताली सिंह, बिलासपुर

बच्चो, जुलाई के महीने में गुरु-पूर्णिमा का उत्सव मनाया जाता है। इस अवसर पर गत वर्ष के लेख में हमने शबरी की गुरु-भक्ति के सम्बन्ध में जाना था इसी कड़ी में अब हम 'गुरु-शिष्य परम्परा' के विषय में जानेगें। यह विषय कठिन अवश्य है, पर इसे हम सरलता से समझ सकते हैं।

स्वामीजी के विचारों पर आधारित पुस्तक "I am a voice without a form से Talks with Disciples शीर्षकों के अन्तर्गत 'गुरु-शिष्य परम्परा' (Tradition) नामक एक शीर्षक है। इस पुस्तक को पढ़ने के पश्चात् हमारे देश के भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम जी ने राष्ट्रपति, भवन, नई दिल्ली में १४ जुलाई, २००५ को जो संदेश लिखा था, वह इस प्रकार है –

संदेश

राष्ट्रपित भवन, नई दिल्ली
१४ जुलाई, २००५

''I am a voice without a form'' नामक पुस्तक पढ़कर मैं अत्यन्त प्रेरणा का अनुभव कर रहा है। जब स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, 'पवित्र हृदयवाले धन्य हैं, क्योंकि वे ईश्वर का दर्शन करेंगे।' यह हृदय की पवित्रता ईश्वर का दर्शन करायेगी। वास्तव में यह इस जगत के पूर्ण संगीत का सिद्धान्त है। इस विचार ने मेरी चेतना को निश्चित रूप से प्रभावित किया है।

''स्वामी विवेकानन्द ने सुषुप्त आत्मा को जागृत करने हेतु आत्म-चेतना की क्रियाओं का आह्वान किया। वास्तव में, मन में नैतिक और धार्मिक विकास दुख और कष्टों को दूर करने की ओर ले जाता है।

''स्वामी विवेकानन्द का धर्मो के लिए कितना सुन्दर संदेश है, 'मेरे नाम को प्रमुखता नहीं दी जानी चाहिये। ये मेरे विचार हैं, जिन्हें मैं साकार करना चाहता हूँ।' आइये ! हम ऐसा करें और सर्वशक्तिमान ईश्वर हमारे समाज को आशीर्वाद देंगे।''

यदि किसी व्यक्ति में गुरु, आध्यात्मिक साधना, जप, ध्यान आदि के प्रति अटूट श्रद्धा है, तो स्वाभाविक रूप से, किसी को उनके लिये संघर्ष करने की आवश्यकता नहीं है। गुरु ही ब्रह्मा हैं, गुरु ही विष्णु हैं और गुरु ही स्वयं शिव हैं।

'गुरु-शिष्य परम्परा' शिक्षा-ग्रहण की पवित्र प्राचीन परम्परा है

प्रत्येक आत्मा का पूर्ण होना नियति है और प्रत्येक प्राणी अन्त में पूर्णता की अवस्था को प्राप्त करेगा। अभी हम जो कुछ भी हैं, वह अतीत में हमारे कर्मों और विचारों का परिणाम है। भविष्य में हम जो कुछ भी होंगे, वह इसका परिणाम होगा कि हम अभी क्या सोचते हैं और क्या करते हैं। लेकिन यह हमारी अपनी नियति को आकार देना, हमें बाहर से सहायता प्राप्त करने से नहीं रोकता है, न ही अधिकांश क्षेत्रों में ऐसी सहायता नितान्त आवश्यक है। जब यह आता है, तो आत्मा की उच्च शक्तियाँ और सम्भावनाएँ तेज हो जाती हैं, आध्यात्मिक जीवन जाग्रत हो जाता है, विकास अनुप्राणित हो जाता है और अन्त में मनुष्य पवित्र और परिपूर्ण बन जाता है।

यह त्वरित प्रेरणा पुस्तकों से प्राप्त नहीं किया जा सकता। एक आत्मा केवल दूसरी आत्मा से ही प्रेरणा प्राप्त कर सकती है, किसी अन्य वस्तु से नहीं। हम जीवन भर पुस्तकों का अध्ययन कर सकते हैं, हम अत्यधिक बौद्धिक हो सकते हैं, लेकिन अन्त में हम पाते हैं कि हम आध्यात्मिक रूप से बिल्कुल भी बढ़े नहीं हैं। यह सत्य नहीं है कि वास्तविक विकास का उच्चक्रम सदैव मनुष्य के आध्यात्मिक पक्ष के

शेष भाग पृष्ठ ३१९ पर

प्रश्नोपनिषद् (४७)

श्रीशंकराचार्य

भाष्य – सामर्थ्यात् प्रलये अपि तस्मिन् एव अक्षरे सम्प्रतिष्ठते जगत् ततः एव उत्पद्यते इति सिद्धं भवति। न हि अकारणे कार्यस्य सम्प्रतिष्ठानम् उपपद्यते।

भाष्यार्थ – सामर्थ्य के कारण प्रलयकाल में भी जगत् उसी अक्षर (ब्रह्म) में स्थित रहता है और उसी से पुन: उत्पन्न होता है, ऐसा सिद्ध होता है। बिना कारण (प्रकृति-रूपी उपादान) के कार्य (जगत्) की स्थिति सम्भव नहीं है।

भाष्य – उक्तं च 'आत्मन एष प्राणो जायते' (प्रश्न उ. ३/३) इति। जगतः च यत् मूलं तत् परिज्ञानात् परं श्रेय इति सर्व-उपनिषदां निश्चितो अर्थः। अनन्तरं च उक्तं 'स सर्वज्ञः सर्वो भवति' (प्रश्न उ. ४/१०) इति। वक्तव्यं च क्व तर्हि तद्-अक्षरं सत्यं पुरुष-आख्यं विज्ञेयम् इति। तदर्थो अयं प्रश्न आरभ्यते। वृत्त-अन्वाख्यानं च विज्ञानस्य दुर्लभत्व-ज्ञापनेन तत् लब्धि अर्थं मुमुक्षूणां यत्न-विशेष-उपादानार्थम्।

भाष्यार्थ – श्रुति में ऐसा कहा भी गया है, ''आत्मा से ही यह प्राण उत्पन्न होता है''। जगत् की उत्पत्ति का जो मूल (कारण) है, उसका ज्ञान हो जाने पर 'परम कल्याण' की प्राप्ति होती है, यही समस्त उपनिषदों का सुनिश्चित तात्पर्य है। इसके बाद ऐसा भी कहा गया है, ''वह सर्वज्ञ तथा सर्वमय हो जाता है।'' अब बताने योग्य यही रह जाता है कि उस 'पुरुष' नामक अक्षर सत्य को कहाँ जाना जा सकता है। इसी उद्देश्य से यह प्रश्न आरम्भ किया गया है। यह लघु उपाख्यान ज्ञान की दुर्लभता, उसकी प्राप्ति में कठिनाई और मुमुक्षुओं द्वारा उसकी उपलब्धि हेतु विशेष प्रयत्न की आवश्यकता को बताने के लिये है।

भाष्य – हे भगवन् हिरण्यनाभो नामतः कोसलायां भवः कौसल्यो राजपुत्रो जातितः क्षत्रियो माम् उपेत्य उपगम्य एतम् उच्यमानं प्रश्नम् अपृच्छत। षोडशकलं षोडश-संख्याकाः कला अवयवा इव आत्मनि अविद्या-अध्यारोपित-रूपा यस्मिन् पुरुषे सोऽयं षोडशकलः तं षोडशकलं हे भारद्वाज पुरुषं वेत्थ विजानासि? तम् अहं राजपुत्रं कुमारं पृष्टवन्तम् अब्रुवम् उक्तवान् अस्मि नाहम् इमं वेद यं त्वं पृच्छसि इति।

भाष्यार्थ – (सुकेशा का प्रश्न) हे भगवन्, हिरण्यनाभ नामवाला, कोसल राज्य में उत्पन्न होने के कारण कौसल्य, क्षत्रिय जाति के राजकुमार ने मेरे पास आकर यह प्रश्न किया, ''हे भरद्वाज के पुत्र, क्या आप उस सोलह कलाओंवाले 'पुरुष' को जानते हैं, जिस (चेतन प्राणी) में मानो अज्ञान द्वारा, अवयवों के समान (श्रोत्र आदि) सोलह कलाएँ आरोपित हैं?'' उस राजकुमार द्वारा ऐसा पूछे जाने पर मैंने कहा, ''तुम जिसके विषय में पूछते हो, उसे मैं नहीं जानता।''

भाष्य – एवमुक्तवति अपि मयि अज्ञानम् असम्भावयन्तं तम् अज्ञाने कारणम् अवादिषम्। यदि कथञ्चित् अहम् इमं त्वया पृष्टं पुरुषम् अवेदिषं विदितवान् अस्मि कथम् अत्यन्त-शिष्य-गुणवते अर्थिने ते तुभ्यं न अवक्ष्यं न उक्तवान् अस्मि न ब्रूयाम् इति अर्थः।

भाष्यार्थ – मेरे ऐसा कहने पर भी, उसे मेरे अज्ञान पर अविश्वास करते देखकर, मैंने उसे अपने अज्ञान का कारण बता दिया था, ''यदि मैं तुम्हारे द्वारा पूछे गये 'पुरुष' को जानता, तो मैं क्यों तुम्हारे जैसे उत्तम शिष्य-गुण से सम्पन्न जिज्ञासु को नहीं बताता?''

भाष्य – भूयो अपि अप्रत्ययम् इव अलक्ष्य प्रत्याययितुम् अब्रुवम् – 'समूलः सह मूलेन वा एषः अन्यथा सन्तम् आत्मानम् अन्यथा कुर्वन् अनृतम् अयथाभूतार्थम् अभिवदति यः स परिशुष्यति शोषम् उपैति इहलोक-परलोकाभ्यां विच्छिद्यते विनश्यति। यत् एवं जाने तस्मान्-नार्हाम्यहम् अनृतं वक्तुं मूढवत्।'

भाष्यार्थ – इसके बाद भी, उसे अविश्वास करते हुए देखकर उसे विश्वास दिलाने हेतु मैंने कहा, ''जो व्यक्ति स्वयं को वास्तविकता से भिन्न रूप में दिखाता है और झूठ बोलता है; वह जड़-मूल सहित सूख जाता है, इहलोक तथा परलोक से विच्छिन्न (नष्ट) हो जाता है। मैं इस बात को जानता हूँ, अत: मूर्ख की तरह झूठ बोलने में समर्थ नहीं हूँ।

शेष भाग अगले पृष्ठ पर

दक्षिणेश्वर-लीला-चिन्तन

रामकुमार गौड़, वाराणसी

मन चलो दक्षिणेश्वर गंगातट, प्रभुवर जहाँ विहार करैं ।
कीर्तनानन्द में मतवाले हो, भव-बन्धन परिहार करैं ।।
होकर समाधि में तन्मय दैवी-लीला बारम्बार करैं ।
श्रीमुखमण्डल के दिव्य तेज से, भक्ति भाव-संचार करैं ।।
प्रभु पाँच वर्ष के बालक सम, आसक्तिशून्य हो वास करैं।
मन सरल, उदार और अन्तर्मुख, सहज भाव विश्वास करैं।।
श्रीमुख से ईश्वरकथा छोड़, कुछ अन्य न वार्तालाप करैं ।
मन निरानन्द को सदानन्दमय, सहज आप से आप करैं ।।
'ईश्वर ही सत्य, अनित्य जगत्', उद्घोष यही बहुबार करैं।
निश्छल मन स्वार्थगंध विरहित, ऐसा उदार व्यवहार करैं।।
हो ईश्वरप्रेमोन्मत्त भाव-सुख, में विचरण अनयास करैं ।
चितचोर आँख की चितवन से प्रभु भवसागर का त्रास हरैं।।
श्रीमुख पर शोभित मंद, मधुर मुस्कान, सरल आचार करैं ।
भक्तों के संग कथा-कीर्तन में, ही उल्लास अपार भरैं ।।
मानो अनन्त सागर तट पर प्रभुवर विचरण साभार करैं ।
सच्चिदानन्द-सागर में मछली सम उन्मुक्त विहार करैं ।।
प्रभु को जो भाव-समाधि लगे, वह वर्णन-परे, विशेष करं।
हे मन! वह रूप सुदर्शन अनुपम, सब भवबन्धन-त्रास हरं।।
गंगातट पर चाँदनीघाट से होकर मंदिर में जाना ।
माँ भवतारिणी जहाँ शोभित, उनको प्रणाम करके आना।।
श्रीराधाकान्त युगल मंदिर में जाकर पुनः प्रणाम करो ।
सम्मुख द्वादश शिवलिंग वहाँ भी जा प्रणाम साभार करो ।।
माँ काली मंदिर के सम्मुख जो नाट्य-सुमंदिर सुस्थित है ।
उसमें कुछ देर बैठकर प्रभु को अन्तर में साकार करो ।।
मंदिर-प्रांगण में चलते-चलते, यही सदैव विचार करो।
प्रभुवर ने क्या-क्या लीला की, लीला-रस का संचार करो।।
फिर प्रभु-कक्ष के पास पहुँचकर, शीश झुकाओ चौखट पर।
प्रभु तीस वर्ष तक यहाँ रहे, इसका भी खूब विचार करो ।।
प्रभुदेव-कक्ष के उत्तर में, जो है बरामदा अति सुन्दर ।
प्रभुवर-नरेन्द्र का मिलन गुप्त, इसका विचार सौ बार करो।।
अब प्रभु-कक्ष में बैठो हे मन! हृदय-द्वार उन्मुक्त करो ।
प्रभु हृदय-कमल पर बैठे हैं, बस यही भाव संयुक्त करो ।।
फिर प्रभु का वहाँ ध्यान करके, उनसे विनती बहुबार करो ।
हे प्रभु! भक्ति दो, चरण-शरण दो, भक्तिभाव-संचार करो।।
अब प्रभु-कक्ष का मार्ग पार कर, नौबतखाने में आना।
प्रभुवर-लीलासहचरी सारदा माँ को शीश झुका जाना ।।
श्रीमाँ सारदा और माँ चन्द्रामणि ने यहीं निवास किया ।
माँ ने कितने ही भक्तों का, सेवा-सत्कार सहास किया ।।
माँ को प्रणाम करके हे मन ! तुम विनती यह विशेष करो ।
माँ, प्रभु और स्वामीजी तीनों विचरण हृदय-प्रदेश करो ।।
अब बकुलतला के विमल घाट से, पावन पंचवटी आना।
प्रभु की साधना भूमि को सादर शीश झुकाकर गुण गाना ।।
फिर हंस-तालाब-मार्ग से होकर, बेल-तला में भी जाना।
प्रभु-तंत्र साधना भूमि यही, यह भी विचार करते जाना ।।
फिर मथुरनाथ की कोठी को भी तुम प्रणाम साभार करो ।
प्रभुवर भी कुछ दिन यहाँ रहे, इसका भी जरा विचार करो।।
बस यहीं बैठकर मथुरनाथ ने, प्रभु का दिव्य रूप देखा।
प्रभुदेव-कक्ष पूर्वी बरामदे, में शिव-काली को देखा ।।

पिछले पृष्ठ का शेष भाग

भाष्य – स राजपुत्र एवं प्रत्यायितः तूष्णीं व्रीडितो रथमारुह्य प्रवव्राज प्रगतवान् यथा आगतम् एव। अतः न्यायतः उपसन्नाय योग्याय जानता विद्या वक्तव्य-एव-अनृतं च न वक्तव्यं सर्वासु अपि अवस्थासु इति एतत् सिद्धं भवति। तं पुरुषं त्वा त्वां पृच्छामि मम हृदि विज्ञेयत्वेन शल्यमिव मे हृदि स्थितं क्वासौ वर्तते विज्ञेयः पुरुष इति।।५/१।।

भाष्यार्थ – वह राजकुमार, जो इस प्रकार विश्वास दिलाये जाने पर चुपचाप, लज्जित भाव से, अपने रथ में सवार होकर, जैसे आया था, वैसे ही चला गया। इससे यह सिद्ध हुआ कि (विधिपूर्वक) अपने पास आनेवाले योग्य शिष्य को अपनी जानी हुई विद्या प्रदान करनी ही चाहिए; सभी अवस्थाओं में झूठ नहीं बोलना चाहिए। वह ('पुरुष'-विषयक) प्रश्न मेरे हृदय में काँटे के समान चुभा हुआ है, मैं आपसे उसी 'पुरुष' के विषय में पूछता हूँ, ''वह पुरुष कहाँ निवास करता है?'' **(क्रमशः)**

जो जैसा बोएगा, वैसा ही काटेगा

स्वामी गुणदानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर

'जैसा हम बोएँगे, वैसा ही काटेंगे अर्थात् हम अपने कर्मों का फल अवश्य पाते हैं।' प्रसिद्ध कवि सुमित्रानन्दन पन्त ने एक महान सत्य को एक विचार के आधार पर प्रतिपादित किया है। कवि बचपन में पैसों के बीज बोता है और वह आशा करता है कि पैसों के पेड़ उगेंगे और वह धनी बन जाएगा। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। पचास वर्ष के बाद कवि ने अपनी मिट्टी में सेम के बीज को बोए। वह यह देखकर आश्चर्यचकित होता है कि सेम के बीजों पर तो अंकुर निकल आए हैं, उसकी लताएँ फैल गई हैं और उन पर फलियाँ आ गई हैं। कवि ने विचार किया है कि धरती, माता के समान नि:स्वार्थ होकर हमें बहुत कुछ प्रदान करती है। कवि ने अनुभव किया कि बचपन में उसे इस भेद का ज्ञान नहीं था, इसीलिए लोभ के कारण उसने पैसों के बीज बो दिए थे। कवि कहना चाहता है कि प्रकृति का अपना नियम होता है। धरती में जो कुछ हम बोते हैं, वैसा ही पाते हैं। परन्तु पैसे बोने से पैसों के पेड़ नहीं उगे, क्योंकि यह लोभ और स्वार्थ को इंगित करता है। जब मिट्टी में उसके अनुकूल व प्रकृति के नियमानुसार बीज बोते हैं, तो वह हमें बहुत कुछ प्रदान करती है। इस प्रकार वह रत्नप्रसविनी है। कवि के शब्दों में – **'रत्न प्रसविनी है वसुधा, अब समझ सका हूँ।'**

कवि की दृष्टि मानवतावादी है। उसे इस बात का दु:ख है कि समाज में फैले वर्ग-भेद से हम समाज को घृणित स्तर प्रदान कर रहे हैं। इस प्रकार अपनों से ही घृणा करने लगते हैं। धरती से हमें सीख प्राप्त करनी चाहिए। वह हमें नि:स्वार्थपूर्वक कितना कुछ प्रदान करती है और बदले में हमसे कुछ भी आशा नहीं रखती।

कवि का विचार है कि **'इसमें सच्ची समता के दाने बोने हैं।'** अर्थात् हमें धरती में यदि कुछ बोना हो, तो समता के बीज बोएँ, जिससे विषमता और असमानता से मुक्त हो सकें।

कवि मानवीय क्षमता का पक्षधर है। वह कहता है – **'इसमें जन की क्षमता के दाने बोने हैं।'** अर्थात् प्रत्येक मनुष्य अपनी अपूर्व क्षमता का समुचित उपयोग जन-कल्याण हेतु करे।

आज मनुष्य ममताहीन या निर्मम बन रहा है। 'मानवता के जीवन-श्रम से हँसें दिशाएँ, हम जैसा बोएँगे वैसा ही पाएँगे।'

अत: **मानवता की ममता के दाने बोएँ, जिससे उससे स्वर्णिम फसलें उग सकें।** ये मानवता की स्वर्णिम फसलें होंगी। सुमित्रानन्दन पन्त ने प्रकृति का चित्रण करते हुए समाज को घृणाहीन और सशक्त बनाने के लिए मानवता का सन्देश दिया है कि हम नि:स्वार्थपूर्वक परोपकार, समता, क्षमता और ममता को अंगीकार करें, क्योंकि हम इस समाज रूपी धरती में जैसा बीज बोएँगे, वैसा ही फल प्राप्त करेंगे।

श्रावस्ती के एक धनी सेठ के पुत्र का नाम पण्डित था। वह सात वर्ष की आयु में ही दीक्षित हो गया। एक बार पण्डित ने बुद्ध के प्रिय शिष्य सारिपुत्त के साथ विचरण करते हुए मार्ग में देखा कि किसान कठिन स्थान में भी नालियाँ बनाकर जल को पहुँचा रहे हैं। पण्डित ने सारिपुत्त से पूछा, 'क्या इस अचेतन जल को हम जहाँ चाहें, वहाँ ले जा सकते हैं?' सारिपुत्त ने उत्तर दिया, 'हाँ! इस अचेतन को हम अपनी इच्छा से, जहाँ चाहें, ले जा सकते हैं।'

दोनों आगे की ओर अग्रसर हुए। उन्होंने देखा कि बढ़ई काठ काटकर अनेक प्रकार की वस्तुएँ बना रहे थे और आगे जाकर उन्होंने देखा कि धनुष बनाने वाले सरकंडा आग में तपाते हैं, उसे सीधा करते हैं और फिर बाण बनाते हैं। पण्डित ने सारिपुत्त से वही बात पूछी कि क्या हम अचेतन वस्तु को, जैसा चाहे, वैसा रूप दे सकते हैं? सारिपुत्त ने कहा, 'हाँ।' पण्डित विचार करने लगा, 'यदि हम इन अचेतन वस्तुओं को प्रयत्न करके जैसा चाहे वैसा रूप दे सकते हैं, तो फिर अपने चित्त को जहाँ चाहे, वहाँ क्यों नहीं लगा सकते?'

यह विचार करते हुए पण्डित की आँखें खुल गईं। उसके बाद पण्डित सारिपुत्त से आज्ञा लेकर बौद्ध विहार में आकर

साधना में लीन हो गया। सायंकाल विहार में पण्डित स्वयं धम्मचर्चा का विषय बन गया। महात्मा बुद्ध ने कहा, 'जब कोई व्यक्ति पूरी तन्मयता से किसी कार्य (ध्यान और धर्म का अनुपालन) को करता है तो समग्र कायनात (ब्रह्माण्ड) उसकी रक्षा करता है। पण्डित साधना में रत था, तो मैंने भी उसकी रक्षा के लिए पहरेदार का कार्य किया।'

जो तन्मयता, जो एकाग्रता किसान नहर से जल ले जाते हुए, धनुष बनाने वाले बाण को सीधा करते हुए और बढ़ई लकड़ी काटकर वस्तुएँ बनाते हुए प्राप्त करते हैं, उसी दत्तचित्तता को पाकर हम आत्मसंयम से अर्हत्व प्राप्त करते हैं।'

यदि जीवन का समग्रता से अध्ययन करें, तो हम पाते हैं, जब आन्तरिक प्रतिभाएँ कार्य और विचार द्वारा अभिव्यक्त होती हैं, तो वह चरित्र की सबसे उत्कृष्ट अभिव्यक्ति मानी जाती है। युवाओं में सन्तुलन, शान्ति और शक्ति का संयोजन होना चाहिए, जो उच्चतम भारतीय चरित्र का सबसे अच्छा उदाहरण है।

यदि युवाओं को सफल बनना है, यशस्वी बनना है, तो पहले चरित्र-निर्माण रूपी बीज को बोना होगा। चरित्र-निर्माण के लिए संयम और ज्ञान के द्वारा अनुशासन का पालन करना होगा। समाज या राष्ट्र द्वारा बोये गये अनुशासन रूपी बीज को अंकुरित करके फलीभूत करना होगा।

आज युवा असफल होने पर अकर्मण्यता की ओर जा रहे हैं, जिसके कारण वे लक्ष्यहीन, दिशाहीन तथा अवसादग्रस्त हो जाते हैं। युवाओं को उच्च दृष्टिकोण और नवचेतना प्राप्त कर आत्मकल्याण के बीज बोने होंगे, क्योंकि जैसा हम बोते हैं, वैसा पाते हैं। ○○○

पृष्ठ ३१५ का शेष भाग

अनुपातिक विकास के साथ-साथ चलता है। पुस्तकों का अध्ययन करते समय हम कभी-कभी यह सोचकर भ्रमित हो जाते हैं कि इससे हमें आध्यात्मिक रूप से सहायता मिल रही है, लेकिन यदि हम पुस्तकों के अध्ययन से स्वयं पर पड़नेवाले प्रभाव का विश्लेषण करें, तो हम पाएँगे कि ऐसे अध्ययन से अधिकतम लाभ केवल हमारी बुद्धि को होता है, हमारी अन्तरात्मा को नहीं। आध्यात्मिक विकास को तीव्र करने के लिए पुस्तकों की अपर्याप्तता ही इसका कारण है, यद्यपि हममें से लगभग प्रत्येक व्यक्ति आध्यात्मिक विषयों पर सबसे शानदार ढंग से बोल सकता है, किन्तु कार्यान्वयन और वास्तव में आध्यात्मिक जीवन जीने की बात आती है, तो हम अपने को बहुत ही कमतर पाते हैं। आत्मा को तेज करने के लिए आवेग दूसरी आत्मा से आना चाहिए।

जिस व्यक्ति की आत्मा से ऐसा आवेग आता है, उसे गुरु – शिक्षक कहा जाता है और जिस व्यक्ति की आत्मा तक आवेग पहुँच जाता है, उसे शिष्य – छात्र कहा जाता है। इन मुक्त आत्माओं पर मानव जाति का आध्यात्मिक विकास निर्भर करता है। वे पहले दीपक की तरह हैं, जिनसे अन्य दीपक जलते हैं। सच है, प्रकाश प्रत्येक व्यक्ति में है, लेकिन अधिकांश मनुष्यों में यह छिपा हुआ है। महान आत्मायें प्रारम्भ से ही जगमाती हुई ज्योति हैं। जो लोग उनके सम्पर्क में आते हैं, उनके अपने दीपक जल जाते हैं। इससे पहलेवाले दीपक की कोई हानि नहीं होती है। पहला दीपक अपने प्रकाश को अन्य दीपकों तक संचारित करता है। लाखों दीये जलते हैं, लेकिन पहले दीपक का प्रकाश कम नहीं होता, वह चमकता रहता है। पहला दीपक गुरु है और उससे जलनेवाला दीपक शिष्य है। बाद में दूसरा गुरु बन जाता है, इत्यादि।

ये महान लोग जिन्हें आप ईश्वर के अवतार कहते हैं, शक्तिशाली आध्यात्मिक महापुरुष हैं। जब वे आते हैं, तो अपनी शक्ति को अपने निकटतम शिष्यों तक और उनके माध्यम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी शिष्यों तक संचारित करके एक प्रबल आध्यात्मिक धारा को गति प्रदान करते हैं।

यहाँ गुरु-शिष्य परम्परा को बहुत अच्छे ढंग से समझाया गया है, साथ ही हमें सरल शब्दों में बता रहे हैं कि ज्ञान का विस्तार किस तरह से सम्भव है। इसे समझाने के लिए एक दीपक जिसे गुरु की संज्ञा दी गई है, उसके द्वारा अनेक दीपकों में प्रकाश का संचरण अर्थात् कई शिष्यों में ज्ञान-शक्ति का संचार करना बताया गया है, जिससे गुरु का ज्ञान तीव्र प्रकाश के रूप में चारों दिशाओं में फैलता जाता है। यह भी बताया गया है कि पुस्तकों से प्राप्त ज्ञान तो केवल ऊपरी ज्ञान होता है, किन्तु गुरु के सामने बैठकर अर्जित ज्ञान हमारे अन्तस्तल तक पहुँचता है, जिससे हमारा सर्वांगीण विकास होता है। ○○○

श्रीरामकृष्ण-गीता (२४)

स्वामी पूर्णानन्द, बेलूड़ मठ

(स्वामी पूर्णानन्द जी रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने २९ वर्ष पूर्व में इस पावन श्रीरामकृष्ण-गीता ग्रन्थ का शुभारम्भ किया था। इसे सुनकर रामकृष्ण संघ के पूज्य वरिष्ठ संन्यासियों ने इसकी प्रशंसा की है। विवेक-ज्योति के पाठकों के लिए बंगला भाषा से इसका हिन्दी अनुवाद रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर के स्वामी कृष्णामृतानन्द जी ने की है। – सं.)

भक्तास्तु बुद्धियुक्ता ये लब्ध्वा भगवतः कृपाम्।
भुञ्जते परमानन्दं संसारे नितरामिह।।२४।।

– जो बुद्धिमान भक्त हैं, वे भगवत्कृपा को प्राप्त कर इस संसार में परमानन्द का भोग करते हैं।

होहविति यथा शब्दः श्रूयते आपणाद्बहिः।
शब्दो न बुध्यते स्पष्टं यावन्नान्तर्विशेत् पुमान्।।२५।।

– जैसे बाजार के बाहर केवल हो-हो शब्द सुनाई पड़ता है। किन्तु जब तक लोग भीतर प्रवेश नहीं करते हैं, तब तक वह हो-हो शब्द स्पष्ट समझ में नहीं आता।

स शब्दोऽन्तः प्रविश्यैव ज्ञानाय सम्यगर्ह्यते।
कश्चिद्वा पणते कश्चिन्मूल्यैः क्रीणाति दृश्यते।।२६।।

– बाजार में प्रवेश करने पर वह शब्द ठीक-ठीक समझ में आता है। देखा जाता है कि कोई मोल-भाव कर रहा है, कोई पैसा देकर वस्तु खरीद रहा है।

तथैवात्र विशेषेण धर्मस्य जगतो बहिः।
धर्मभावो न विज्ञेयो हट्टकोलाहलो यथा।।२७।।

– वैसे ही धर्मजगत के बाहर से (बाजार के कोलाहल की तरह) धर्मभाव को कुछ भी समझा नहीं जा सकता है।

उच्छिष्टमखिलं वस्तु नाद्यापि ब्रह्म केवलम्।
कृत्स्नवेदपुराणानि वक्त्रो धृतानि मानुषैः।।२८।।
ब्रह्म किं विद्यमद्यापि कोऽपि नार्हत्युदीरितुम्।
तस्माद्वर्णनीयत्वादुच्छिष्टः तन्न केनचित्।।२९।।

– सभी वस्तुयें उच्छिष्ट हो गयीं, केवल एक ब्रह्म ही आज तक उच्छिष्ट नहीं हुआ। वेद-पुराण आदि सभी मानव के मुख से निकलकर उच्छिष्ट हुए हैं, परन्तु ब्रह्म क्या वस्तु है, आज तक उसे कोई नहीं जान सका, वर्णन नहीं कर सका। (इसलिए अवर्णनीय होने के कारण वह उच्छिष्ट नहीं हुआ।)

तद्दाम्पत्यसुखं यद्वद् बोधगम्यं न बालकैः।
तद्वत् खल्विह संसारे व्याख्यातमपि चासकृत्।।३०।।
सदैव मायया मुग्धान् संसारिणो न सम्भवेत्।
जीवांश्च विषयासक्तान् ब्रह्मानन्दस्य बोधनम्।।३१।।

– जैसे बालक दाम्पत्य-सुख क्या है, उसे नहीं समझ सकता, वैसे ही सदा विषयासक्त मायामुग्ध संसारी जीव को ब्रह्मानन्द को समझाया नहीं जा सकता।

नाक् तिरिकिट तागिति तत् सुकथ्यं
वक्त्रेण हस्तैर्बहुकष्टवाद्यम्।
तद्वत्तु वक्तुं वचनैः सुगम्यः
क्लेशेन साध्यो गुरुणेष धर्मः।।३२।।

– 'नाक् तेरे केटे ताक' ताल मुख से कहना बहुत सरल है, किन्तु हाथ से बजाना बहुत कठिन है। उसी प्रकार धर्म की बातें कहना बहुत सरल है, किन्तु कार्य रूप में परिणत करना बहुत कठिन है।

श्रीमहाराज उवाच

ब्रह्मचारी जनैकः सन् जटाजूट-समन्वितः।
नाम्ना वै रामचन्द्रोऽसौ दक्षिणेश्वरमागतः।।३३।।
श्रीदेवदर्शनाकांक्षी तत्रासीनस्त्वनन्यभाक्।
उच्चचार शिवोऽहं स शिवोऽहमिति केवलम्।।३४।।

श्रीमहाराज ने कहा – एक दिन रामचन्द्र नामक एक जटाजूटधारी ब्रह्मचारी श्रीश्रीठाकुर के दर्शन के लिए दक्षिणेश्वर में आये थे। वे वहाँ अन्य कोई वार्तालाप न कर केवल शिवोऽहं शिवोऽहं का उच्चारण करने लगे।

श्रुत्वेति प्रभुदेवस्तु ब्रह्मचारिणमागतम्।
तुष्णीं स्थित्वा कियत्कालं प्रोवाच तं जगद्गुरुः।।३५।।

– यह सुनकर जगद्गुरु श्रीरामकृष्ण ने कुछ देर मौन रहकर अन्त में उस ब्रह्मचारी से कहा – **(क्रमशः)**

ईश्वर ने वास्तव में कोई अभाव नहीं रखा है, मनुष्य का अभाव केवल उसके मन में है। सुख-दुख मन में हैं, बाहर नहीं। जैसा भाव, वैसा लाभ।

– स्वामी विरजानन्द जी महाराज

श्रीराम और श्रीरामकृष्ण

स्वामी निखिलात्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी निखिलात्मानन्द जी महाराज, प्रयागराज, नारायणपुर, जयपुर के सचिव थे। उन्होंने यह व्याख्यान श्रीरामकृष्ण आश्रम, अमरकंटक में दिया था, जिसे विवेक-ज्योति पत्रिका के पाठकों हेतु प्रकाशित किया जा रहा है।)

(गतांक से आगे)

श्रीरामकृष्ण देव इस युग में आते हैं। उन्होंने किसी राक्षस का नाश नहीं किया। वे हमारे जीवन के दुर्गुणों का नाश करते हैं। इसीलिए श्रीरामकृष्ण देव के बारे में कहते हैं –

संशय-राक्षस-नाश-महास्त्रम्
यामि गुरुं शरणं भव-वैद्यम्।।

श्रीरामकृष्ण देव का अवतरण हमारे भीतर जो संशयरूपी राक्षस हैं, ऐसे संशयरूपी राक्षसों के नाश के लिए होता है। उन्नीसवीं शताब्दी में भगवान श्रीरामकृष्ण देव आये थे। उस समय धर्म के क्षेत्र में, ईश्वर के क्षेत्र में केवल भारत में नहीं, सारे विश्व में, विशेष कर पाश्चात्य देशों में देखा जाता है कि संशय था। उस समय ईश्वर पर से लोगों का विश्वास हट रहा था। विज्ञान के जो आविष्कार हो रहे थे, वे धर्मग्रंथों की मान्यताओं को अस्वीकार कर रहे थे। ईसाई धर्म-ग्रंथ में लिखा था कि जो सूरज है, वही पृथ्वी के चारों ओर परिक्रमा करता है, पर गैलेलियो जैसे वैज्ञानिक आकर कहते हैं कि नहीं, सूर्य पृथ्वी के चारों ओर परिक्रमा नहीं करता, यह पृथ्वी ही सूर्य के चारों ओर घूमती है। ऐसे गैलेलियो को प्राणदण्ड दिया गया। क्यों? क्योंकि यह व्यक्ति धर्मग्रंथ के विरुद्ध बात कहता है, पर बाद में धीरे-धीरे पाश्चात्य देशों में वैज्ञानिक उत्कर्ष होते हैं और ईश्वर के अस्तित्व को पूरी तरह नकार देते हैं। वे कहते हैं – ईश्वर के अस्तित्व को मानने की कोई आवश्यकता नहीं, इस संसार को किसी भगवान ने नहीं बनाया, यह संसार अपने आप उत्पन्न हुआ है। यह संसार कार्य-कारण की शृंखला के द्वारा चल रहा है। प्रत्येक कार्य के पीछे कारण है, इसे किसी ईश्वर ने नहीं बनाया। उस युग के ऐसे अविश्वासी वैज्ञानिक पूरी तरह से ईश्वर के अस्तित्व को नकार देते हैं। काल मार्क्स नामक एक चिन्तक आते हैं, ये भी ईश्वर के अस्तित्व को एकदम नकारते हुए कहते हैं। वे कहते हैं – If there is indeed a God in an extracosmic heaven, why does so much suffering exist in the world? Why are millions starving? Why are thousands of innocent children forced to endure starvation in factories and whorkshops for the profit of exploitative employers? The existence of such enequality, the perpetuation of such cruelty from one human to another, in the presence of an all-powerful God is something I find difficult to comprehend. If indeed there is a God, then it seems we inhabit a world devoid of compassion. Religion, in this context, appears to be merely a consolation for the suffering masses. ये काल मार्क्स बड़ी सशक्त भाषा में ईश्वर के अस्तित्व को नकारते हुए कहते हैं – अगर ईश्वर सातवें आसमान में हैं, तो संसार में इतना दुख-कष्ट क्यों है? क्यों लाखों लोग भूख से मर रहे हैं, क्यों हमारे छोटे-छोटे बच्चे पूँजीपतियों के लाभ के लिए फैक्ट्री और वर्कशॉप में भूखे मरने पर अमादा होते हैं? इस सर्वशक्तिमान ईश्वर के रहते अन्याय क्यों? अगर ईश्वर है, तो वह आत्माविहीन आत्मा की आत्मा है। अगर ईश्वर है, तो वह हृदयहीन जगत का हृदय है। धर्म लोगों के लिए अफीम है।

बड़ी सशक्त भाषा में काल मार्क्स ईश्वर के अस्तित्व को नकारते हैं। हमारे देश में जहाँ धर्म का जन्म हुआ, धर्म का उद्भव हुआ, वहाँ उस समय धर्म की कैसी अवनति थी ! धर्म केवल शास्त्रार्थ का विषय रह गया था। धर्म के जो बड़े-बड़े आचार्य थे, वे अपने-अपने मत को ही श्रेष्ठ बनाने में ही लगे हुए थे। शैव शाक्तों से झगड़ते, शाक्त वैष्णवों से झगड़ते। वेदान्तियों का सबके साथ वैमनस्य। सभी कहते, मेरा मत ही सही है। ऐसी अवस्था हमारे देश में थी और स्वामीजी भी कहते हैं कि उस समय तो, मानो 'मुझे मत छुओ' यही हमारा धर्म था। मैं बड़ा पवित्र हूँ, मुझे मत छुओ। धर्म की ऐसी अवनति थी !

इस परिस्थिति में भगवान श्रीरामकृष्ण देव का अवतरण होता है। भगवान श्रीरामकृष्ण किसी प्रकांड पंडित के रूप में नहीं आते हैं, शास्त्रज्ञ के रूप में नहीं आते हैं, किसी

राजा के यहाँ नहीं आते हैं। श्रीरामकृष्ण एक निर्धन ब्राह्मण के यहाँ आते हैं, अशिक्षित ब्राह्मण के रूप में आते हैं। वे बाद में दक्षिणेश्वर के कालीमंदिर के पुजारी होते हैं। वे माँ काली की बड़ी निष्ठा से पूजा करते हुए कहते हैं – माँ ! क्या तू पत्थर की प्रतिमा है? मुझे तो तू पत्थर की प्रतिमा प्रतीत होती है, पर मैंने तो सुना, तूने भक्तों को दर्शन भी दिया है। तूने रामप्रसाद, कमलाकान्त को दर्शन दिया है, माँ क्या मुझे तेरा दर्शन नहीं होगा। वे रो-रो करके माँ काली से प्रार्थन करते हैं – माँ दर्शन दे, दर्शन दे, दर्शन दे। मुझे धन नहीं चाहिए, नाम नहीं चाहिए, यश नहीं चाहिए। माँ ! मैं केवल तेरा दर्शन चाहता हूँ। माँ के दर्शन की व्याकुलता उनकी बढ़ती जाती है। जैसे ही एक दिन समाप्त होता, वे पछाड़ खाकर गिर पड़ते और कहते – माँ ! जीवन का एक दिन बीत गया, तेरे दर्शन नहीं हुए। क्या मेरा जीवन यूँ ही बीत जायेगा? एक दिन तो वे इतने व्याकुल हो जाते हैं कि माँ काली से कहते हैं – तुझे इतने दिनों से पुकार रहा हूँ, तूने दर्शन दिये नहीं, तो अब इस जीवन को रखने से क्या लाभ? अब मैं अपने जीवन का अन्त कर दूँगा। यह कहकर वहाँ पर जो बलि देने का खड्ग लटका हुआ था, उसे उतार लेते हैं और जैसे ही अपने गले पर चलाने को तत्पर होते हैं, तो वह पत्थर की प्रतिमा जीवन्त हो जाती हैं। माँ काली उनके सामने प्रकट हो जाती हैं। श्रीरामकृष्ण कहते थे – व्याकुलता के बल पर मैंने जगन्माता का दर्शन प्राप्त किया। इसलिए जब भक्त उनसे पूछते – महाराज ! क्या ईश्वर को देखा जा सकता है? श्रीरामकृष्ण कहते – अवश्य देखा जा सकता है ! पर क्या तुम रो सकते हो? हममें से रोना किसे नहीं आता ! हम संसार की वस्तुओं के लिए कितने आँसू बहाते हैं, प्रियजनों की मृत्यु होने पर कितना रोते हैं? पर क्या कोई भगवान के लिए रोता है? यदि कोई भगवान के लिए रो सके, तो निश्चय जानना, उसे भगवान के दर्शन होंगे।

श्रीरामकृष्ण कठिन साधना की बात नहीं कहते हैं। वे कहते हैं – भगवान के लिए अगर व्याकुल होकर रो सके, तो उसे ईश्वर के दर्शन होंगे। सचमुच श्रीरामकृष्ण भगवती का दर्शन करते हैं। माँ काली उनके लिए जीवन्त हो जाती हैं। माँ काली उनका नैवेद्य ग्रहण करती हैं और उन्हें विभिन्न प्रकार के उपदेश देती हैं, उनका मार्गदर्शन करती हैं। वे केवल माँ काली का दर्शन करके संतुष्ट नहीं होते। वे बाद में हिन्दू धर्म के जितने मत हैं, वैष्णव मत, शाक्त मत, शैव मत, वेदान्त मत, सबकी साधना करते हैं। वैष्णव मत की साधना करते हैं, शान्त, दास्य, सख्य, मधुर, इन भावों को लेकर साधना करते हैं। उन्हें श्रीराम के दर्शन होते हैं, सीताजी के दर्शन होते हैं, कृष्ण के दर्शन होते हैं, राधिकाजी के दर्शन होते हैं, हनुमानजी के दर्शन होते हैं। तन्त्र-पद्धति से चौसठ तंत्रों की साधना करते हैं। वे कहते हैं – देवी के विभिन्न ऐसे रूपों के दर्शन होते हैं, जिसका मैं वर्णन नहीं कर सकता। देवियों के अद्भुत सौंदर्य, जिस सौंदर्य का वर्णन नहीं कर सकता। इस प्रकार वे उनका दर्शन प्राप्त करते हैं। अब उनके गुरु के रूप में तोतापुरी आते हैं। वे उनके सान्निध्य में वेदान्त की साधना कर तीन दिन में ही निर्विकल्प समाधि की उपलब्धि करते हैं, ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं। उनकी साधना केवल हिन्दू धर्म तक ही सीमित नहीं रहती। वे इस्लाम की साधना कर मुहम्मद पैगम्बर का दर्शन करते हैं। ईसाई धर्म की साधना कर ईसा मसीह का दर्शन प्राप्त करते हैं। इस प्रकार श्रीरामकृष्ण का जीवन मानों धर्म की अद्भुत प्रयोगशाला बन जाता है। इसीलिए श्रीरामकृष्ण कहते हैं – अरे जितने मत हैं, वे सब भगवान के पास जाने के लिए अलग-अलग पथ हैं, इसीलिए धर्म को लेकर झगड़ा नहीं करना चाहिए। ये सब मानों उसी ईश्वर के पास जाने के अलग-अलग मार्ग हैं। धर्म के समबन्ध में जो संशय था, श्रीरामकृष्ण देव इस प्रकार उस संशयरूपी राक्षस का नाश करते हैं।

एक बार श्रीरामकृष्ण एक भक्त के यहाँ गये थे। उनका नाम था नन्द बसु। नन्द बसु ने कहा – महाराज ! अगर भगवान दयालु हैं, सबपर कृपा करने वाले हैं, तो ऐसे भगवान ने किसी मनुष्य को सुखी, किसी को दुखी क्यों बनाया? कोई व्यक्ति जीवन से ही सब प्रकार की सुख-सुविधा को लेकर के आता है और कोई व्यक्ति मानो जीवन-भर कष्ट पाता है, ऐसे दयालु भगवान के राज्य में इतना अंधेरा क्यों? मानों वही बात जो काल मार्क्स ने कही थी – यदि सर्वशक्तिमान ईश्वर है, तो संसार में इतना दुख-कष्ट क्यों है? श्रीरामकृष्ण कहते हैं – अरे संसार में भगवान को छोड़कर और है ही क्या? मैं तो देखता हूँ, ईश्वर ही सबकुछ हुए हैं। जो दूसरे को सुख दे रहा है, वह भी ईश्वर, जो दूसरे को दुख पहुँचा रहा है, वह भी ईश्वर। अरे, ईश्वर को छोड़कर तो मैं संसार में कुछ भी नहीं देखता हूँ। मैं तो देखता हूँ, जो बकरा बलि के लिए ले जाया जा रहा है, वह बकरा

भी ईश्वर है, जो व्यक्ति उसकी बलि देगा, वह भी ईश्वर है, जिस लकड़ी से उसे बाँधकर काटा जायेगा, वह भी ईश्वर है, जिस तलवार से उसे काटा जायेगा, वह भी ईश्वर है। अरे ईश्वर छोड़कर के मैं तो कुछ देखता ही नहीं। ईश्वर को छोड़कर संसार में है ही क्या? ऐसे श्रीरामकृष्ण सारे संसार को ईश्वरमय देखते हैं। कैसी अद्भुत अनुभूति है !

एक बार श्रीरामकृष्ण गंगा के किनारे खड़े थे। उन्होंने देखा कि दो मल्लाहों में झगड़ा हो रहा है। तभी एक मल्लाह ने दूसरे की पीठ पर जोरों से तमाचा मारा। उधर दूर में खड़े हुए श्रीरामकृष्ण जोरों से कराह उठे। वे जोरों से चिल्ला उठे। उनका भांजा हृदय उनकी आवाज सुनकर पहुँचा। उसने श्रीरामकृष्ण की पीठ पर पंजे का निशान देखा। हृदय पूछता है – मामा ! तुमको किसने मारा? अभी बताओ, उसका सिर काट दूँगा। श्रीरामकृष्ण कहते हैं – अरे हृदु ! किसी ने मुझे मारा नहीं। एक मल्लाह ने दूसरे की पीठ पर तमाचा मारा। मुझे लगा कि वह तमाचा मुझे लगा। इस प्रकार श्रीरामकृष्ण देव दूसरे का कष्ट अपने जीवन में अनुभव करते थे।

वे एक दिन खड़े हैं अपने कमरे के सामने। दूब से भरा मैदान है, हरी-हरी घास बिछी हुई है। एक व्यक्ति घास पर से चलता हुआ चला गया। श्रीरामकृष्ण को लगा, मानो कोई उनकी छाती पर से चला गया। उनकी छाती आरक्त हो गयी थी। चिल्ला पड़े श्रीरामकृष्ण। उनका मन दूब के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

ऐसे श्रीरामकृष्ण इस युग में आते हैं। ईश्वर के साथ उनका अद्भुत तादात्म्य ! वे कहते हैं – ईश्वर को छोड़कर मैं अन्य कुछ देखता ही नहीं। ईश्वर ही मानों कण-कण में विराजमान हैं, प्रत्येक वस्तु में विराजमान हैं।

उधर श्रीराम आते हैं – कैसे रावण, कुम्भकर्ण का वे नाश करते हैं। ये रावण, कुम्भकर्ण कौन हैं? कहते हैं –

मोह दशमौलि तद्भ्रात अहँकार

पाकारिजित काम विश्रामहारी। विनय पत्रिका ५८

'मोह दशमौलि' – अर्थात् हमारे जीवन में जो मोह की वृत्ति है, वही है दशमुख; रावण है। हमारे जीवन में जो अहंकार की वृत्ति है, वही है उसका भाई कुम्भकर्ण। अर्थात् हमारे जीवन के जितने विकार हैं, वही मानों इस रावण, कुम्भकर्ण की राक्षस सेना है। ये रावण कुम्भकर्ण कौन थे? ये थे भगवान विष्णु के द्वारपाल जय और विजय। इनके अन्दर बड़ा अहंकार हो गया था कि हम भगवान के द्वारपाल हैं। एकबार सनकादि मुनि आये। अहंकार में चूर्ण जय और विजय ने सनकादि मुनियों को भगवान विष्णु के पास जाने नहीं दिया। सनकादि मुनि क्रोध में आकर श्राप देते हैं – तुम लोग तीन युगों तक राक्षस कुल में जन्म ग्रहण करोगे। हम देखते हैं कि जय-विजय सतयुग में हिरण्यकश्यपु और हिरण्याक्ष के रूप में आते हैं, त्रेता युग में रावण और कुम्भकर्ण के रूप में आते हैं और द्वापर में शिशुपाल और दन्तवक्र के रूप में आते हैं।

एक महात्मा से यह कथा सुनकर भक्त ने कहा – महाराज ! हमारा ये कलियुग सबसे अच्छा है। ये रावण, कुम्भकर्ण तीन युगों में समाप्त हो गये। हमारे इस कलियुग में नहीं आये। हमारे लिए तो बड़े आनन्द की बात है। महात्माजी ने कहा – ऐसी बात नहीं है। अरे ये रावण, कुम्भकर्ण तो एक-एक युगों में एक-एक नाम, एक-एक रूप धारण कर आये थे, पर हमारे कलियुग में तुम जहाँ देखोगे, वहीं कुम्भकर्ण दिखाई पड़ेंगे। यहाँ तो रावण, कुम्भकर्ण भरे हुए हैं ! इसलिए हमारे युग में तो भगवान के अवतार की और भी अधिक आवश्यकता है। कहते हैं, यह रावण है मानों मोह का प्रतीक, ये कुम्भकर्ण है अहंकार का प्रतीक। ये रावण, कुम्भकर्ण भगवान शंकर को प्रसन्न करने के लिए बड़ी कठोर तपस्या करते हैं। भगवान शंकर प्रसन्न हो गये, उनकी तपस्या से। कैलाश से चले। पार्वतीजी ने पूछा – प्रभु ! कहाँ जा रहे हैं? शंकरजी ने कहा – अरी! मैं वरदान देने जा रहा हूँ। इन रावण, कुम्भकर्ण ने बड़ी कठोर तपस्या की है, मैं वरदान देने जा रहा हूँ। भगवान शंकर चले जा रहे हैं। रास्ते में ब्रह्माजी मिल गये। ब्रह्माजी ने पूछा – प्रभु ! आप कहाँ चले? शंकरजी ने कहा – मैं रावण, कुंभकर्ण को वरदान देने जा रहा हूँ। ब्रह्माजी ने कहा – प्रभु ! मैं भी आपके साथ चलता हूँ, पता नहीं क्या वरदान दे दें आप! आप भी संकट में पड़ते हैं और हम सबको भी संकट में डालते हैं। सचमुच में भगवान शंकर तो ऐसे औघड़दानी हैं कि जिसने जो माँगा, उसको वे वही दे देते हैं। एक राक्षस ने माँगा कि मैं जिसके सिर पर हाथ रख दूँ, वह भस्म हो जाये। भगवान शंकर ने तुरन्त तथास्तु कह दिया। उस राक्षस ने देखा कि शंकरजी के साथ पार्वतीजी हैं। यदि ये मिल जायें, तो अच्छा होगा। उसने सोचा कि इस वरदान का प्रयोग इनके सिर पर ही करूँ, पार्वती मुझे मिल जायेंगी। बस चला

शंकरजी के सिर पर हाथ रखने और भगवान शंकर वहाँ से भागने लगे। दौड़कर विष्णु जी के पास गये और कहते हैं – प्रभु ! रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए। इस दुष्ट को वरदान मैंने दे दिया कि जिसके सिर पर हाथ रखेगा, वह भस्म हो जायेगा, किन्तु यह मुझ पर ही इसका प्रयोग करने आ रहा है। तुरन्त भगवान विष्णु ने मोहिनी का रूप धारण किया। जैसे ही वह राक्षस भस्मासुर वहाँ पहुँचा, उसने मोहिनीरूपी विष्णुजी को देखा। वह पार्वतीजी को भूल गया। मोहिनी से कहता है – तुम मुझसे विवाह कर लो। मोहिनीरूपी भगवान विष्णु ने कहा – ठीक है, तुमसे विवाह कर लूँगा। पर पहले हम तुम नृत्य करेंगे। जैसा मैं नाचूँगा, ठीक तुम्हें वैसा ही नाचना होगा। यदि तुम उसमें सफल हो गये, तो तुमसे विवाह करेंगे। दोनों ने नाचना आरम्भ किया। नाचते-नाचते मोहिनीरूपी विष्णु ने अपने सिर पर हाथ रखा, तो उसने भी अपने सिर पर हाथ रखा और भस्म हो गया।

इसीलिए ब्रह्माजी कहते हैं – प्रभु ! मैं भी आपके साथ चलता हूँ। शंकरजी ने कहा – चलिये। दोनों पहले रावण के पास पहुँचे। भगवान शंकर कहते हैं – वत्स ! हम तुम्हारी तपस्या से प्रसन्न हैं, बोलों क्या वरदान चाहिए? रावण शंकरजी और ब्रह्माजी को प्रणाम कर कहता है – प्रभु ! एक ही वरदान चाहिए और कुछ नहीं ! क्या चाहिए? रावण कहता है – **हम काहू के मरहिं न मारें**। केवल एक ही वरदान दीजिए प्रभु कि हम किसी के मारने से न मरें। तुरन्त ब्रह्माजी ने कहा – नहीं, यह वरदान तुमको नहीं मिल सकता। संसार में जिसका भी जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु अवश्य होगी। तुमको ये वरदान नहीं मिल सकता। रावण ने ब्रह्माजी की ओर देखा फिर भगवान शंकर की ओर देखा। उसने गणित लगाया – ब्रह्माजी के केवल चार सिर हैं और शंकर के पाँच सिर हैं, दोनों मिलकर नौ ही सिर हुए, पर मेरे तो दस सिर हैं। बुद्धि में ये दोनों मिलकर भी मेरी बराबरी नहीं कर सकते। जब व्यक्ति के भीतर मोह जागता है, तब वह अपने को बड़ा बुद्धिमान समझता है। जब भी हमारे भीतर मोह जागता है, हम अपने को बड़ा बुद्धिमान समझते हैं।

हम देखते हैं महाभारत की युद्ध-भूमि में जब अर्जुन के मन में मोह जागा, तो वह ऐसा उपदेश देता है कि भगवान कृष्ण भी आश्चर्यचकित हो जाते हैं। बड़ा लम्बा उपदेश देता है। अर्जुन भगवान कृष्ण से कहता है – कृष्ण ! अगर ये युद्ध होगा, तो क्या होगा जानते हैं –

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।।
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः।।
सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।।
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।।

(गीता १/४०-४३)

– हे कृष्ण ! हमारे सारे कुल का नाश हो जायेगा। कुल का नाश होने से कुलधर्म नष्ट हो जायेंगे। कुलधर्म नष्ट होने से धर्म का सर्वत्र नाश हो जायेगा। अधर्म के सर्वत्र फैल जाने के कारण हमारे कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जायेंगी। ये स्त्रियाँ वर्णशंकर को जन्म देगीं और वर्णशंकर हमारे पितरों को पतित कर देगा। अगर हमारे पितर पतित हो गये, तो फिर बचेगा क्या? – **अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।** ये युद्ध करके हम कितना बड़ा पाप करने जा रहे हैं। जब अर्जुन पर मोह सवार होता है, तो ऐसा उपदेश देता है। रावण तो मोह का जीता-जागता स्वरूप है। उसने देखा कि ब्रह्मा के चार सिर हैं, शिव के पाँच सिर हैं पर मेरे तो दस सिर हैं, बुद्धि में ये दोनों मेरी बराबरी नहीं कर सकते। इसलिए कहता है – अच्छा महाराज ! मुझे ये वरदान नहीं दे सकते, पर ये तो दे सकते हैं। क्या? कहता है –

हम काहू के मरहिं न मारें।
बानर मनुज जाति दुई बारें।। १/१७६/४

अच्छा ये वरदान तो दे सकते हैं कि मनुष्य जाति और वानर जाति इन दोनों को छोड़कर हम किसी के मारने से न मरें। उसने गणित लगाया – अरे वानरों का तो मैं कलेवा करता हूँ। मनुष्यों को तो मैं मार करके खाता हूँ। अगर ये वरदान मुझे मिल गया कि मनुष्य और वानर जाति इन दो को छोड़कर किसी के मारने से न मरूँ, तो मैं अमर हो जाऊँगा। भगवान शंकर ने ब्रह्माजी की ओर देखा – क्या राय है आपकी? ब्रह्माजी ने कहा – तथास्तु बोल दीजिए महाराज! भगवान ने तथास्तु कह दिया। अब रावण सोचता है, बस मैं अमर हो गया। ये मनुष्य और बन्दर तो किसी स्थिति में मुझे मार नहीं सकते और इन दोनों को छोड़कर मैं और किसी के मारने से नहीं मरूँगा, बस मैं अमर हो गया। **(क्रमशः)**

कलियुग के दोष एवं उनसे बचने के उपाय

राजकुमार गुप्ता, वृन्दावन

प्रकृति के तीन गुण सत्त्व, रजस्, तमस् हैं, जिन्हें सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के नाम से जाना जाता है। काल की प्रेरणा से इन गुणों में वृद्धि और ह्रास होता रहता है। जब सत्त्व बढ़ता है, तब सतयुग, जब सत्त्व और रजस मिलकर बढ़ते हैं, तब त्रेतायुग तथा जब रजोगुण और तमोगुण बढ़ते हैं, तब द्वापर युग होता है। इसी प्रकार जब तमोगुण अति वृद्धि को प्राप्त होता है, तब कलियुग होता है। ये चारों युग कालचक्र के घूमने से बारी-बारी से होते रहते हैं।

धर्म के चार चरण सत्य, दया, तप और दान सतयुग में पूर्ण रूप से विद्यमान रहते हैं। त्रेता युग में धर्म के चरणों में २५ प्रतिशत (एक चौथाई) ह्रास हो जाता है। द्वापर में आधा (५० प्रतिशत) हो जाता है। कलियुग आते-आते धर्म के चरणों का तीन चौथाई (७५ प्रतिशत) ह्रास हो जाता है। जैसे-जैसे कलियुग अपने चरम पर पहुँचता है धर्म के चारों चरण सत्य, दया, तप और दान पूरी तरह से असत्य, हिंसा असन्तोष व कलह द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं। ऐसे समय में अधर्म का ही बोलबाला हो जाता है। पुराणों में वृषभ यानि बैल को धर्म का प्रतीक माना जाता है। उसके तीन पैर टूट जाने का अर्थ यह नहीं है कि वह एक टांग वाला बैल है, बल्कि इसका तात्पर्य है कि धर्म रूपी बैल जो सतयुग में १०० किलोमीटर चलता था, अब २५ किलोमीटर ही चलता है। चारों चरण नष्ट होने का अर्थ है कि अब धर्म का चलन पूरी तरह समाप्त हो गया है। बैल तो चार पैरवाला ही है। घोर कलियुग के कुछ दोषों का वर्णन सनातन धर्म के ग्रन्थों में निम्न प्रकार से मिलता है।

कलियुग में वर्णाश्रम की जड़ ही कट जाती है। इसका कारण कलियुग में कदाचार के चलते वर्णसंकरता फैल जाती है। वर्ण और आश्रम के नाम पर दिखावा ही शेष रह जाता है। वर्णाश्रम के चिह्न धारण करना मात्र ही पहचान रह जाती है। जैसे जो यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण करे, वह ब्राह्मण तथा जो गेरुआ (काषाय वस्त्र) पहने, वह संन्यासी। स्वार्थ-पूर्ति (पेट भरने के लिए) हेतु आवश्यकतानुसार वर्ण या आश्रम बदल लिया। करना इतना ही है कि पुराने वर्ण या आश्रम के चिह्न उतारकर नये वर्णाश्रम के चिह्न धारण कर लिए। श्रीरामचरितमानस में गोस्वामीजी कहते हैं –

जाके नख अरु जटा बिसाला।
सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला।। ७/९७/८
नारि मुई गृह संपति नासी।
मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी।। ७/९९ख/६

कलि के प्रभाव से राजा लुटेरों के समान हो जाते हैं। प्रजा की रक्षा करने के स्थान पर प्रजा का शोषण करने लगते हैं। राजा बनने के लिए कोई नियम या योग्यता नहीं रह जाती, जो बलवान होकर अन्यों को दबा ले, वही राजा बन जाता है। इन नाम मात्र के राजाओं द्वारा प्रजा पर नित नये-नये कर लगाये जाते हैं। जन सामान्य का धन, पशु, स्त्री एवं शील तक सुरक्षित नहीं रहता। कलियुग में वर्षा न होने के कारण बार-बार अकाल पड़ता रहता है। भूमि बंजर हो जाती है। बिना अन्न के दुखी होकर लोग भूखों मरने लगते हैं। अन्न के अभाव में लोग पेड़ों के पत्ते, छाल, गुठलियाँ, जीव-जन्तुओं व एक दूसरे तक को खाने लगते हैं। लोगों में क्रोध बहुत बढ़ जाता है। बात-बात पर अल्प लोभवश सगे-सम्बन्धी भी आपसी सौहार्द छोड़कर एक-दूसरे के रक्त के प्यासे हो जाते हैं।

कलियुग में लोगों की स्मृति मंद हो जाती है। लोग हर बात को लिखने में विश्वास करते हैं। धर्म-ग्रन्थ पुस्तकों के रूप में ही रह जाते हैं। सनातन वेद-पथ को छोड़कर पाखण्डी लोग नये-नये मत एवं सम्प्रदाय बना लेते हैं और इस प्रकार छद्म धर्म की आड़ लेकर अपना पेट पालते हैं एवं अपनी वासनाओं की पूति करते हैं।

शौच, सदाचार, भक्ष्य, अभक्ष्य और विधि-निषेध का विचार कोई नहीं करता। कुछ लोग जो इनका पालन करने का प्रयास करते हैं, उन्हें पिछड़ा, रूढ़िवादी कहकर उनका मजाक उड़ाया जाता है।

असुभ बेष भूषन धरे, भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर, पूज्य ते कलियुग माहिं।।
७/९८ क

घर में स्त्रियों की प्रभुता विशेषकर तरुणी स्त्रियों की

प्रधानता हो जाती है। माता-पिता-गुरुजनों का आदर-सत्कार कोई नहीं करता। सब प्रकार की वर्जनायें, मर्यादायें और शुभ संस्कार नष्ट हो जाते हैं। कलि के प्रभाव से लोगों को भूख बहुत लगती है। सन्तानें बहुत होती हैं। मनुष्यों के शरीर के आकार छोटे हो जाते हैं। उम्र बहुत कम हो जाती है। घोर कलियुग आने पर मनुष्य की परम आयु २० वर्ष ही रह जाती है। यदि कोई ३० वर्ष का हो गया, तो लोग आश्चर्य करते दूर-दूर से उसे देखने आते हैं। वृक्षों का आकार भी छोटा रह जाता है। शरीर में बल की कमी के चलते मनुष्य दैनिक कार्यों के लिए भी यंत्रों पर निर्भर हो जाते हैं। वे विनाशक हथियारों के निर्माण में ही अपनी बुद्धि का कौशल लगाते हैं।

कलियुग में शीघ्रगामी यातायात के साधनों का प्रयोग पाखण्ड के प्रचार के लिए किया जाता है। लोग पाप-कर्म करते हैं। पाप कर्मों का परिणाम तो दुख के रूप में भोगना ही पड़ता है। प्राय: सभी लोग पापपरायण हो जाते हैं। इसलिये उन्हें नित्य नये-नये दुख सताते रहते हैं।

ऐसे तो कलियुग दोषों का खजाना है, परन्तु इसमें एक महान गुण भी है। इस युग में भगवान के कथा-श्रवण द्वारा ही चित्तशुद्धि होकर परम कल्याण की प्राप्ति हो जाती है। सतयुग में सबका अन्त:करण शुद्ध होता था। वे हजारों वर्ष भगवान का ध्यान करके परमगति पाते थे। त्रेतायुग में बड़े-बड़े यज्ञों द्वारा भगवान की आराधना करके धर्म-पद की प्राप्ति होती थी। द्वापर में वैदिक व तान्त्रिक विधि से भगवान की पूजा करके लोग भव-पार होते थे। कलियुग में ध्यान के लिए वांछित एकाग्रता तथा अन्त:करण की शुद्धि नहीं है। यज्ञ के लिये शुद्ध सामग्री नहीं है। पूजा के लिए भी धन और वस्तुओं का अभाव है। फिर भी...

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं, त्रेतायां यजतो मषैः।
द्वापरे परिचर्यायां, कलौ तद्धरिकीर्तनात्।।

जो फल सतयुग में भगवान के ध्यान से, त्रेता में यज्ञ करने से और द्वापर में भगवान की पूजा करने से मिलता था, वही फल कलियुग में भगवान का कीर्तन करने से मिल जाता है।

कुछ मनीषी ऐसा भी कहते हैं कि चारों युग नित्य सबके जीवन में आते रहते हैं। जब सत्त्व गुण बढ़ा हुआ हो, चित्त शान्त हो, बिना बाह्य कारण के मन, प्रसन्न हो, तो समझो उस समय आपके लिए सतयुग आ गया। जब स्वाभाविक ही धर्म में प्रवृत्ति हो, तो समझो त्रेता आया। जब चित्त में व्यग्रता हो, विभिन्न प्रकार के कर्मों में प्रवृत्ति हो, तो समझो हम द्वापर में हैं। कलियुग तो चल ही रहा है। इसमें लोगों की आयु, स्मृति व बुद्धि अल्प हो जाती है तथा मनुष्य हमेशा बहुत से उपद्रवों से ग्रस्त रहता है। इसीलिए भगवन्नाम-कीर्तन रूपी सरल साधन, कलियुगी जीवों के निस्तारण के लिये निश्चित किया गया है।

कलियुग में एक और महान गुण यह है कि इसमें शुद्ध धर्ममय कर्मों का संकल्प भी कोई सच्चे मन से कर ले, तो उसे बिना उन कर्मों को किए, संकल्प मात्र से उन कर्मों का फल मिल जाता है। परन्तु अशुभ और अधर्म रूप कर्मों का फल उन्हें करने पर ही मिलता है, सोचने या संकल्प मात्र से नहीं। इसीलिए महाराज परीक्षित ने कलियुग को दण्ड नहीं दिया था। भागवत में सूतजी कहते हैं –

नानुद्वेष्टि कलिं सम्राट् सारङ्ग इव सारभुक्।
कुशलान्यासु सिद्ध्यन्ति नेतराणि कृतानि यत्।
(भागवत १/१८/७)

गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं –

कलि कर एक पुनीत प्रतापा।
मानस पुन्य होहिं नहिं पापा।। ७/१०२/८

इसलिए सतयुग, त्रेता, द्वापर के बहुत से लोग भगवान से प्रार्थना करते हैं, हमारा जन्म कलियगु में हो और हम भगवान के नाम के सहारे भव से पार हो जायें।

एक बार श्रीव्यास जी गंगा स्नान कर रहे थे। तभी बहुत से ऋषियों ने इनसे पूछा – सर्वश्रेष्ठ युग कौन-सा है? श्री व्यास जी ने गंगाजी में खड़े-खड़े ही कहा – कलियुग ही श्रेष्ठ है, कलियुग ही श्रेष्ठ है। कलियुग ही श्रेष्ठ है।

अत: हम कलियुग के दोषों का रोना-धोना छोड़कर अपने को कलियुग में मनुष्य जन्म पाने पर गौरव का अनुभव करते हुए भगवन्-नाम-जप-कीर्तन में लग जायें और अपना कल्याण कर लें। भव से तर जायें। गोस्वामीजी भी कहते हैं –

कलिजुग सम जुग आन नहिं, जौ नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल, भव तर बिनहिं प्रयास।।
(तुलसीदासकृत दोहावली दो. ५६२)

वैसे तो भगवन्-नाम का प्रभाव चारों युगों में रहा है और रहता है और रहेगा परन्तु कलियुग में तो इसके समान अन्य साधन कोई नहीं। इसलिए हर व्यक्ति को अपनी व्यस्त दिनचर्या में से कुछ समय भगवन् नाम के जप-कीर्तन के लिये अवश्य निकालना चाहिए। ○○○

गीतातत्त्व-चिन्तन

बारहवाँ अध्याय (१२/११)

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी महाराज रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के संस्थापक सचिव थे। उनका 'गीतातत्त्व-चिन्तन' भाग-१ और २, अध्याय १ से ६वें तक पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुका है और लोकप्रिय है। ८वाँ अध्याय 'विवेक ज्योति' के सितम्बर, २०१६ से नवम्बर, २०१७ अंक तक प्रकाशित हुआ था। अब प्रस्तुत है १२वाँ अध्याय, जिसका सम्पादन ब्रह्मलीन स्वामी निखिलात्मानन्द जी ने किया है। – सं.)

भक्ति से धर्म और अमृत की प्राप्ति

भक्त के मन में मोक्ष की भी अपेक्षा नहीं

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१६।।

यः अनपेक्षः शुचिः दक्षः (जो पुरुष अपेक्षा से रहित, शुद्ध, दक्ष) उदासीनः गतव्यथः सर्वारम्भ परित्यागी (पक्षपातरहित, व्यथामुक्त, सब कर्मारम्भों का त्यागी है) सः मद्भक्तः मे प्रियः (वह भक्त मुझे प्रिय है)।

''जो पुरुष अपेक्षा से रहित, शुद्ध, दक्ष, पक्षपातरहित, व्यथामुक्त, सब कर्मारम्भों का त्यागी है, वह भक्त मुझे प्रिय है।''

गीता के बारहवें अध्याय के इस सोलहवें श्लोक के पूर्वश्लोकों में भक्त के जीवन में होनेवाली साधनात्मक क्रियाओं का वर्णन है और वे ही जब जीवन में सिद्धि के रूप में पर्यवसित होती हैं, तब भक्ति की पराकाष्ठा को भक्त पा लेते हैं। भक्ति विलक्षण वस्तु है। उसकी क्रिया भी विलक्षण है। ऐसा इसलिए कि वही साधना भी है और वही सिद्धि भी। भक्ति की हम साधना करते हैं और सिद्धिलाभ होने पर उसी भक्ति में परिपक्वता आती है। भक्त के जीवन में प्रकट होनेवाले गुणों की शृंखला को आगे बढ़ाते हुए यहाँ भगवान अर्जुन को बता रहे हैं कि भक्त **अनपेक्ष** होता है। उसे किसी प्रकार को कोई अपेक्षा नहीं रहती, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि उसे भगवान से भी कोई अपेक्षा नहीं रहती। उसे संसार से कोई अपेक्षा नहीं रहती। वह भगवान को तो चाहता है, पर भगवान से कुछ नहीं चाहता। किसी को चाहने और किसी से चाहने का अन्तर प्रत्यक्ष है। भक्त की संसार से सारी अपेक्षा चली गई, यहाँ तक कि भगवान से भी वह मोक्ष की अपेक्षा नहीं रखता और ईश्वर को चाहता है। केवल ईश्वर-प्रेम के कारण वह पूर्णतः अनपेक्ष हो गया।

किसी भी क्रिया के साथ तीन प्रकार के भाव हो सकते हैं। जैसे सेवक अपने स्वामी के पैर दबा रहा है, इस क्रिया के तीन भाव हो सकते हैं। एक स्थिति यह है कि पैर दबाने की क्रिया तो चल रही है, पर मन इधर-उधर भाग रहा है। दूसरी स्थिति यह है कि पैर भी दबाएँ और इच्छा भी रखें कि हमारी सेवा से स्वामी प्रसन्न हो जाएँ, तो उनसे क्या माँगें? बदले में कुछ पाने की भावना रहती है। तीसरी स्थिति यह है कि हम जो सेवाकार्य कर रहे हैं, उससे हमारे स्वामी को प्रसन्नता होगी। इससे अधिक और कोई माँग नहीं रहती।

इन तीनों स्थितियों में कर्म तो बाहर से एक ही समान दिखाई देता है, परन्तु मन की स्थिति के कारण उस समान दीखनेवाली क्रिया के तीन फलभेद हो गए। तीन प्रकार के अलग-अलग फल हो गए। एक में चित्त बैठा ही नहीं, हाथों से क्रिया चलती रही और मन भटकता रहा। दूसरे में हाथ क्रिया करते रहे और मन कुछ पाने की इच्छा करता रहा। तीसरे में केवल क्रिया ही होती है और वह भी दूसरे के प्रेम से, दूसरे के सन्तोष के लिए।

भगवान इस तीसरी प्रकार की ही क्रिया चाहते हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है। वे तो हमारे समूचे मन को ही चाहते हैं। उन्हें और कुछ भी नहीं चाहिए। भगवान भाव

को ही ग्रहण करते हैं और भक्त से भाव की अपेक्षा रखते हैं। अनपेक्ष भक्त वह होता है, जो अपने मन का सारा भाव भगवान को दे देता है।

भगवान को छोड़कर यदि किसी अन्य से हम कुछ माँगें, तो वह भी अपेक्षा की श्रेणी में ही आता है। वैसा करने का अर्थ हुआ कि भगवान के सम्बन्ध में हमारी धारणा पूरी तरह परिपक्व नहीं हुई। भले ही भगवान को हम सकल चराचर त्रिलोक के स्वामी कहकर पुकारते रहें, पर याचना करें किसी ऐसे एक अदने व्यक्ति से जो भगवान से तो निश्चय ही बहुत छोटा है। इसीलिए कहा कि भगवान के उपासक के मन में अपेक्षा का भाव ही नहीं रहना चाहिए। उसे इतना निरपेक्ष होना चाहिए कि भगवान से भी भगवान को छोड़कर कुछ न माँगे।

भक्त प्रह्लाद के सामने प्रकट होकर जब भगवान ने उसे स्वयं वरदान माँगने को कहा, तब भी प्रह्लाद ने उनसे यही कहा, 'प्रभो ! आप मिल गए। अब मुझे और क्या चाहिए?' फिर भी जब नृसिंह भगवान ने उसे कुछ माँग लेने पर विवश ही किया, तो उसने भगवान के ही चरणों की अनपायिनी भक्ति और प्रीति ही माँगी। भक्त की कामना इसी प्रकार की होती है। इस पर भी भगवान ने जब कहा कि तुम्हारी प्रगाढ़ प्रीति के फलस्वरूप ही तो मैं तुम्हारे समक्ष उपस्थित हुआ हूँ। इसके अतिरिक्त कुछ माँगो, तो प्रह्लाद ने कहा, 'कुछ देना ही चाहते हैं तो मुझे यह वरदान दीजिए कि मेरी माँगने की इच्छा ही समाप्त हो जाए।'

अनपेक्ष का प्रह्लाद का यह आदर्श एक बार बहुत अधिक ऊँचा और अगम्य भले ही दिखाई दे, पर बहुत ऊँची पहाड़ी पर बने मन्दिर तक जिस प्रकार अध्यवसाय द्वारा पहुँचा जा सकता है, उसी प्रकार इस लक्ष्य को भी प्राप्त किया जा सकता है। भक्त के लिए यही सुगमता है कि जो भी भाव उसके पास है, उसी भाव से पुकारे तो वही भाव धीरे-धीरे उस चरम भाव को पुष्ट कर देता है और वह उसी उच्चतम आदर्श की स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

भाव ही भक्त की निधि

हजरत मूसा ने एक बार टहलते हुए देखा कि एक गड़ेरिया अपनी लाठी पर ठुड्डी टिकाए बैठा है और प्रार्थना के स्वर में भगवान से कह रहा है – एक बार आ जाओ, तो मैं तुम्हारे सिर से जूएँ निकाल दूँ। तुम्हारे सिर में अच्छी तरह से तेल मालिश करके कंघी कर दूँ। हजरत मूसा ने जाकर गड़रिए को डाँटा – 'अरे पागल ! क्या तू भगवान को अपने जैसा मनुष्य समझता है, जो उनसे ऐसी मूर्खतापूर्ण प्रार्थना कर रहा है?' उनकी बात से घबराकर गड़ेरिये ने उनसे क्षमा माँगते हुए कहा, 'मेरे मन में जैसा भाव आया, वैसा ही मैंने कह दिया। आप बताइए, मुझे क्या कहना चाहिए था?' मूसा ने उसके सामने परम पिता परमेश्वर की महिमा का बखान किया, जो उसके कुछ भी पल्ले नहीं पड़ा और मूसा आगे बढ़ गए। इतने में मूसा को आकाशवाणी सुनाई दी – 'मूसा! आज तुमसे एक असुर-कर्म हुआ है। तुमने एक भक्त को अपने रास्ते से विचलित कर दिया। वह गड़ेरिया बालक अपने ढंग से मेरी सेवा-पूजा करना चाहता था, तो तुमने उसे क्यों रोका? तुम्हारे दर्शन के अनुसार मेरा भजन, मेरी धारणा करने जितनी बुद्धि तो उसमें है नहीं और उसका भाव भी समाप्त करके तुमने उसे कहीं का न रखा।' मूसा वापस लौटकर गड़रिये से क्षमा माँगते हुए बोले, 'भगवान तुमसे परम सन्तुष्ट हैं। तुम जिस तरह प्रार्थना कर रहे थे, वैसे ही करना। मेरी कही हुई बात को भूल जाना।'

इस कथा का तात्पर्य यह पुष्ट करना है कि भगवान भाव से ही प्रसन्न होते हैं। भावना ही भक्त की निधि है। भगवान तक पहुँचने की सीढ़ी है। भगवान से धन, कीर्ति, मोक्ष, जो भी हम चाहते हैं, वही हमें देकर वे प्रसन्न होते हैं कि मुझे छोड़कर किसी और वस्तु में मनुष्य रम जाए, तो अच्छा ही है, पर जब कोई स्वयं भगवान को ही माँग लेता है, तो उसके पास तो उन्हें जाना ही पड़ता है। जैसेकि बच्चा यदि खिलौने, मिठाई लेकर भूला रहे, तो वह सब देकर माँ अपने काम में लगी रहती है, पर बच्चा यदि माँ को ही पाने की हठ करे, तो अपने सब काम छोड़कर माँ को उसके पास जाना ही पड़ता है। अप अर्थात् नीचे; ईक्षा अर्थात् देखने के वृत्ति। अत: अपेक्षा का अर्थ है, जिसकी दृष्टि नीची है। माँगनेवाले की दृष्टि तो नीची होगी ही। अनपेक्षा में याचना का भाव नहीं रहता।

शुचि वह गुण है, जो स्वयं मूर्तिमती पवित्रता है और दूसरे को भी पवित्र बना देती है। ऐसा ही पवित्र भक्त भी होता है जो दूसरों को भी पवित्र बना देता है। अपना भाव दूसरों को भी दे देता है। इसलिए कहा जाता है कि भक्ति की चाह हो, तो भक्त के पास जाओ। जैसे प्रकाश पाने की चाह हो, तो किसी दीये के पास जाया जाता है। जैसेकि अपने दीये को जलाना हो, तो किसी जलते हुए दीये के पास जाकर ही अपना दीया भी जलाया जा सकता है। इसीलिए

कहा गया कि जो स्वयं शुचि-स्वरूप है, वही दूसरों को भी पवित्र बना सकता है। एक शुचिता वह भी होती है, जिसे हम शौच कहते हैं। स्नानादि द्वारा, वस्त्रालंकार द्वारा जिस पवित्रता को हम अपने में लाते हैं। दूसरी तरह की पवित्रता वह है कि गंगा-जल की पवित्रता में इतनी गहरी आस्था है कि उसके छींटे देकर सब कुछ को पवित्र मान लिया। इस प्रकार बाहर तो हमने पवित्रता कर ली, पर इससे भीतर की पवित्रता तो सम्पन्न नहीं हुई। बाहर का मैलापन तो हमको अपनी आँखों से दिख जाता है। भीतर देख सकने का उसके पास कोई उपाय होता, तो वहाँ की गन्दगी को देखकर तो वह घबरा ही जाता। चिन्तन, मनन और भक्ति से भीतर भी शुचिता लाई जा सकती है। यह जो भक्ति है, इसमें यह शक्ति है कि जो भी कुछ अवांछनीय है, अशुचि है, उसे यह जलाकर भस्म कर सकती है।

भक्त का एक गुण है **दक्ष** अर्थात् निपुण होना। निपुण होना अर्थात् किसी से ठगा नहीं जाना। अपने कार्य में निपुण होना। भक्त संसार के कार्य बुद्धि का उपयोग करके निपुणता एवं कुशलता से करेगा। भक्त की सबसे बड़ी निपुणता तो यह है कि वह संसार में रहते हुए भी संसार के झमेलों में न फँसे। संसार तो मानो मनुष्य को कर्म से बाँधने के लिए उद्यत रहता ही है। निपुण भक्त को उस बन्धन से अपने आपको बचाए रखना ही वाञ्छनीय है। नाव तो पानी में रहे, पर पानी नाव में न रहे। पानी नाव में रहेगा, तो नाव डूब ही जाएगी। मधुमक्खी के छत्ते में से शहद तो निकाल लें, पर मक्खियों के डंक से बचे रहें। संसार में तो रहें, पर सांसारिकता के दंश से बचे रहें।

भक्त स्वार्थी नहीं होता

भक्त उदासीन होता है। उत्+आसीन = ऊपर बैठा हुआ। जैसे यदि हम किसी चट्टान पर बैठें हों और नीचे नदी में बाढ़ आ जाए, तो हम उससे अप्रभावित रहते हैं। उसी प्रकार संसार की जो सुख-दुख की नदी है, उसमें बाढ़ आती रहती है। परन्तु भक्त उससे उदासीन, अलिप्त रहता है। सुख या दुख की बाढ़ उसे प्रभावित नहीं करती। भक्त उन सबसे ऊपर उठा रहता है। उसके मन में एक तितिक्षा का भाव रहता है। उदासीन का एक तात्पर्य तो यह है। दूसरा यह भी हो सकता है कि भक्त शुचि हो, पवित्र बनानेवाला हो; वह दक्ष हो और निपुण हो। इन गुणों से उसके मन में कर्तापन का भाव जाग सकता है, अहंकार आ सकता है। इसीलिए स्पष्ट करने के लिए कहा कि वह उदासीन भी है। वह पवित्र तो करता है, पर पवित्र करने का अहं उसमें नहीं रहता। वह निपुण होता है, पर कर्तापन का भाव उसमें नहीं होता। उसके मन का भाव यह रहता है कि उसके प्रियतम परमात्मा ही उससे सब कुछ करवा रहे हैं, उन्हीं की कृपा से सब कुछ हो रहा है और जो कुछ भी वह कर रहा है, वह अपने उस प्रियतम के सन्तोष के लिए ही कर रहा है। भक्त संसार की प्रीति के लिए कार्य नहीं करता। वह ईश्वर की प्रीति के लिए कार्य करता है। मनुष्य के जीवन में 'मैंने किया' के रूप में कर्तापन आता है और 'अपने कर्म के फल को मैं ही भोगूँगा' के रूप में भोक्तापन आता है। इन दोनों स्थितियों से भक्त ऊपर उठा हुआ होता है, इसीलिए उदासीन कहलाता है। जब हम कुछ करना चाहें और वह हो न पाए, तो व्यथा होती है। भक्ति में बाधा पड़ती है। भक्त ऐसे झमेलों में नहीं पड़ता और गतव्यथ रहता है। भक्त सर्वारम्भपरित्यागी होता है – वह समस्त आरम्भों का, कर्मों का परित्याग कर देता है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि वह लकड़ी या पत्थर की तरह निश्चेष्ट पड़ा रहता है। बस इतना ही है कि वह फल की इच्छा से कर्म नहीं करता, स्वार्थयुक्त होकर कर्म नहीं करता, परार्थ के लिए कर्म करता है। ईश्वर की प्रीति के लिए उसकी क्रिया होती है और अपने लिए भी जो कर्म करता है, उन्हें भगवत्समर्पित कर देता है। अपने आपको निमित्तमात्र मानकर कर्म करता है। **(क्रमशः)**

कविता

श्रीरामकृष्णार्चनम्

डॉ. अनिल कुमार 'फतेहपुरी'

जय श्रीरामकृष्ण जगपालक, धर्माधर्म द्वंद-दुःख घालक।
सर्वधर्म समभाव प्रसारक, परमाद्वैत भाव संचारक।।
खुदीराम आत्मज उद्भासक, संशय राक्षस मूल विनाशक।
देवि चन्द्रमणि कुल निस्तारक, नित्यानित्य विभेद विचारक।।
जय श्रीगदाधर जय वनमाली, जय नारायण वैभवशाली।
जय योगीश्वर जय विश्वंभर, जय शुक्लाम्बर जय श्री रघुवर।।
जय निर्मलमति जय सारदापति, जय शिव शुभमति दायक सद्गति।
सर्वदुःखहारक सर्वोद्धारक, जय गुरुकुलभूषण जगतारक।।
परमहंस परमानन्दं परमाणुग्रहकारिणे ।
प्रणमामि जगकर्तारं भर्तारं संहारिणे ।।

साधुओं के पावन प्रसंग (६६)

स्वामी सत्प्रकाशानन्द

स्वामी चेतनानन्द

वाराणसी में १९२१ ई. में महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज) ने कई को संन्यास-दीक्षा दी। उस समय शरत महाराज ने मुझे भी संन्यास के लिए महाराज से अनुमति लेने के लिए कहा। तब मैंने कहा, ''महाराज ने कहा है कि माँ जितने दिन बची हुई हैं, उतने दिन उनकी सेवा करो, तदुपरान्त संघ में सम्मिलित होना।'' उस समय योगीन-माँ ने मुझे डाँटते हुए कहा, ''बूढ़ी माँ का हाथ-पैर बाँधकर गंगा में फेंककर तथा कौपीन पहनकर साधु होना चाहते हो। बहुत वैराग्य दिखाना चाहते हो?''

१९२४ ई. में मेरी माँ की मृत्यु के उपरान्त मैंने संन्यास-दीक्षा के लिए प्रार्थना करते हुए महापुरुष महाराज को पत्र लिखा। अविलम्ब अपने हाथ से लिखित पत्र में उन्होंने मुझे संन्यास देने की इच्छा प्रकट की। किन्तु मेरे दुर्भाग्यवश १९२५ ई. के ठाकुर की जन्मतिथि के दिन मेरी संन्यास-दीक्षा नहीं हुई। उन्होंने मुझे सोपवीत सगैरिक ब्रह्मचर्य दीक्षा दी। बाद में, १९२७ ई. में पुण्यक्षेत्र काशी में श्रीमाँ की जन्मतिथि के दिन संन्यास दीक्षा दी। महापुरुष महाराज की स्नेहशीलता की एक घटना का यहाँ पर उल्लेख कर रहा हूँ – संन्यास दीक्षा के कई वर्षों के उपरान्त मैं बेलूड़ मठ गया। सुबह मैं उनके कमरे में प्रणाम करने गया। प्रणाम करने के बाद उन्होंने मेरा कुशल-प्रश्न पूछा। तदनन्तर मेरे सामने ही उन्होंने मठ के भण्डारी को बुलाकर मेरे लिए नियमित भोजन की व्यवस्था की।

राजा महाराज ने एक बार कौतुक से महापुरुष महाराज को एक पत्र लिखा। घटना सामान्य होने पर भी दोनों के बीच कितना मधुर तथा घनिष्ठ प्रेमपूर्ण सम्बन्ध तथा बन्धुत्व था, उसका प्रमाण मिलता है। १९१७ ई. के ठण्ड के दिनों के आरम्भ में एक दिन बलराम मन्दिर बैठकखाने के कमरे में उन्होंने मुझे पत्र के लिए कागज और स्याही-दावात लाने के लिए कहा। उन्होंने अंग्रेजी में बोलना आरम्भ किया और मैं लिखने लगा। महाराज बीच-बीच में मुझको अंग्रेजी संशोधन करने के लिए कहा करते। एक जगह उन्होंने कहा था will be successful मैंने उनकी अनुमति लेकर लिखा will be crowned with success. पत्र का शीर्षक था To the Abbot, Belur Monastery (बेलूड़ मठ के महन्त महाराज के लिए)। उस समय महापुरुष महाराज बेलूड़ मठ के व्यवस्थापक के रूप में वहाँ पर थे। क्योंकि पूजनीय बाबूराम महाराज बलराम मन्दिर में छोटे कमरे में रोगग्रस्त शय्याशायी थे। पत्र का सारांश इस प्रकार था, आपलोगों के मठ में निश्चित रूप से ईसा-मसीह का उत्सव मनाया जायेगा। हमलोगों का संन्यासियों का एक दल उस उपलक्ष्य में मठ में आ रहा है। आपलोगों का आतिथ्य-सत्कार बहुत प्रसिद्ध है। क्रिसमस पर्व के नियमानुसार निश्चय ही भोजन-पानी की व्यवस्था होगी। विविध आमिष भोजन हमलोगों को बहुत प्रिय है। भोजन-व्यवस्था की आशा से आपको आन्तरिक धन्यवाद ज्ञापित कर रहा हूँ। आपलोगों का उत्सव सर्वतोभावेन सफल हो, ऐसी हमारी शुभकामनाएँ हैं।'

''पत्र पूरा होने पर हस्ताक्षर करने के लिए महाराज को दिया, किन्तु उन्होंने अपना नाम न देकर 'प्रेमानन्द' नाम से हस्ताक्षर किया तथा मुझसे कहा कि ''जाओ बाबूराम महाराज को पत्र पढ़कर सुनाओ।'' बाबूराम महाराज पत्र सुनकर तथा अपने नाम पर झूठा हस्ताक्षर देखकर थोड़ा हँसे, किन्तु और कुछ बोले नहीं। यहाँ पर यह विशेष रूप से देखने की वस्तु है कि बाबूराम महाराज और महापुरुषजी दोनों ही निरामिष थे।

तदनन्तर महाराज ने मुझे बेलूड़ मठ जाकर पत्र को महापुरुष महाराज को देने के लिए कहा तथा उन्होंने यह पत्र भेजा है, यह बताने के लिए मना किया। महापुरुष महाराज ने पत्र को पढ़कर ही मेरी ओर देखकर हँसते हुए कहा, ''महाराज ने भेजा है न?'' मैंने कुछ नहीं कहकर सिर थोड़ा-सा नीचे कर दिया। महापुरुष महाराज समझ गये, 'मौनं सम्मतिलक्षणम्'।

स्वामी सत्प्रकाशानन्द जी १९२४ ई. में ढाका आश्रम में सम्मिलित हुए। १९२७ ई. में वाराणसी में महापुरुष महाराज से संन्यास लेकर वे मायावती अद्वैत आश्रम में 'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका के सह-सम्पादक हुए। तत्पश्चात् १९३१ से १९३६ ई. तक उन्होंने रामकृष्ण मिशन, दिल्ली के अध्यक्ष के रूप में कार्य किया। उन्हीं दिनों बेलूड़ मठ में ठाकुर के मन्दिर

का कार्य चल रहा था। स्वामी अखिलानन्द जी ने इस कार्य के लिए बहुत दान संग्रह किया तथा मन्दिर की प्राण-प्रतिष्ठा के उपलक्ष्य में वे भारत में थे। तब सत्प्रकाशानन्द जी को बेलूड़ मठ से बॉस्टन और प्रोविडेन्स के कार्य के लिए भेजा गया। तदुपरान्त अखिलानन्दजी के अमेरिका वापस आने पर सत्प्रकाशानन्दजी ने वाशिंगटन डी.सी. में एक वेदान्त केन्द्र आरम्भ करने का प्रयास किया। वे कहा करते, यह एक राजनीतिक शहर था और इससे भी बढ़कर यहाँ का जनमानस अस्थायी था। इसीलिए यह स्थायी केन्द्र बनाने के लिए उपयुक्त स्थान नहीं था।

१९३८ ई. में हॉलिवुड की मन्दिर-प्रतिष्ठा के समय अमेरिका के विभिन्न केन्द्रों से संन्यासी समवेत हुए। सत्प्रकाशानन्दजी उन दिनों सोच रहे थे कि भारत वापस चले जायेंगे। किन्तु अन्य संन्यासियों ने कहा ''आप भारत वापस मत जाइये। इसी देश में कार्य कीजिए। हमलोगों का जितना भी कार्य अमेरिका में हो रहा है, वह पूर्वी तट और पश्चिमी तट पर हो रहा है। मध्यतट में कोई सेन्टर नहीं है। सेन्ट लुइस अमेरिका का एक प्रधान शहर है। आप सेन्ट लुइस में एक केन्द्र आरम्भ कीजिए।''

तदनन्तर सत्प्रकाशानन्दजी हॉलीवुड से सनफ्रांसिस्को गये। वहाँ पर व्याख्यान के पश्चात् अशोकानन्दजी ने घोषणा की, ''यहाँ पर क्या कोई है, जो सेन्ट लुइस में किसी व्यक्ति को जानते हो?'' एक महिला ने उठकर कहा ''मेरी बहन सेन्ट लुइस में रहती है।'' सत्प्रकाशानन्दजी उसका स्थान और २५० डॉलर पॉकेट में लेकर सेन्ट लुइस के उद्देश्य से निकल पड़े। १९३८ ई. में सेन्ट लुइस में हवाईजहाज की सुविधा नहीं थी। सेन्ट लुइस पहुँचने पर उक्त भक्त महिला की बहन ने महाराज को एक होटल में पहुँचा दिया। तदुपरान्त आरम्भ हुआ संघर्ष। महाराज आवेग के साथ उनके जीवन-संघर्ष के बारे में बताते थे। उनकी असल सम्पत्ति थी गुरुभक्ति और ठाकुर के ऊपर अगाध विश्वास। उन्होंने मुझसे कहा था, ''देखो, मुझे कोई भय नहीं था। मैं जानता था कि मेरे गुरु मेरी रक्षा करेंगे।''

स्वामी सत्प्रकाशानन्द जी स्थानीय समाचार-पत्र के कार्यालय में वेदान्त विषय पर एक व्याख्यान हेतु विज्ञापन देने के लिए गये, किन्तु उन्होंने विज्ञापन लेने से मना कर दिया। सेन्ट लुइस उन दिनों बहुत रूढ़िवादी शहर था एवं वर्णविद्वेषी भी था। महाराज ने सोचा कि होटल में रहने पर उनका पूरा पैसा बहुत जल्द समाप्त हो जायेगा। इसीलिए उन्होंने एक अपार्टमेंट भाड़ा पर लिया तथा वहाँ पर व्याख्यान देना आरम्भ किया। उन्होंने प्रबुद्ध भारत के एक ग्राहक का पता प्राप्त किया। जब वे उसके साथ भेंट करने गये, तब उसने महाराज से पूछा, ''क्या आप एक सच्चे संन्यासी हैं?'' ''हाँ'' ''तो आप मुझे कठ् उपनिषद् के १.२.१ श्लोक को बताइए।'' महाराज ने उसके साथ-साथ ही कहा –

अन्यच्छ्रेयोऽयदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते।।

अर्थात् कल्याण का साधन अलग है और भोग का साधन अलग है। और वे दोनों मनुष्य को अपनी-अपनी ओर आकर्षित करते हैं। श्रेय को ग्रहण करनेवाला कल्याण को प्राप्त करता है तथा प्रेय को ग्रहण करनेवाला यथार्थ पुरुषार्थ को प्राप्त नहीं कर पाता।

वे सज्जन पहले जर्मन थे और थोड़ा-बहुत संस्कृत जानते थे। महाराज का श्लोक सुनकर उस सज्जन ने कहा, ''आप लाखों में एक हैं।'' महाराज ने जोर देते हुए कहा, ''हाँ मैं हूँ।'' जो भी हो, उस सज्जन ने आरम्भ में थोड़ा-बहुत सहायता की। तदुपरान्त महाराज ने थियोसोफिकल सोसायटी से कुछ लोगों का पता प्राप्त किया, जिनका प्राच्य धर्म से सम्बन्ध था।

महाराज को क्रमशः आठ-दस भक्त मिले। महाराज कहते थे कि १९३८ ई. में सेन्ट लुइस में दो लोग ही भारतीय थे, वे और एक अन्य व्यक्ति, जिसने अफ्रिकी-अमेरिकी महिला से विवाह किया। अभी तो बीस-पच्चीस हजार भारतीय परिवार सेन्ट लुइस में निवास करते हैं।

१९३८ से १९५० ई. तक महाराज ने किराये के मकान में रहकर कार्य किया तथा दारिद्र्य में जीवन व्यतीत हो रहा था। महाराज प्रातः तीन-चार घण्टा जप-ध्यान करते थे। तत्पश्चात् १० बजे संतरा का जूस, फल, अनाज खाते थे। दोपहर में भोजन नहीं करते थे। सन्ध्या समय एक अमेरिकी महिला आकर रात्रि के लिए भोजन तैयार कर देती थी। पौष्टिक भोजन के लिए पैसे नहीं थे। इन सभी अग्रणी संन्यासियों के आत्मत्याग से विदेशों में रामकृष्ण मिशन के अनेक केन्द्र तैयार हुए हैं। ग्रीष्म की छुट्टी में दो-तीन महीना वे हॉलिवुड, सनफ्रांसिस्को या बॉस्टन केन्द्र में चले जाते थे। अपनी पुस्तक, सामान आदि किसी भक्त के गैरेज में रख देते थे, जिससे अपार्टमेंट का किराया न देना पड़े।

१९४७ ई. में हस्टन स्मिथ सेन्ट लुइस के वाशिंगटन विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हुए। गेराल्ड हर्ड तथा एल्डस हक्स्ले

से स्मिथ को सत्प्रकाशानन्दजी का संवाद प्राप्त हुआ और वे महाराज से भेंट करने आये। स्मिथ अमेरिका में Worlds' Religion विशेषत: प्राच्य धर्म का वक्तृता, टेलिविजन तथा ग्रन्थ के माध्यम से प्रचार करते थे। The Worlds' Religion ग्रन्थ के Hinduism chapter को लिखते समय सत्प्रकाशानन्दजी ने उनकी सहायता की थी। तदनन्तर दोनों के मध्य बहुत घनिष्ठता हो गयी तथा स्मिथ सेन्ट लुइस वेदान्त सोसाइटी के प्रेसिडेन्ट हुए। स्मिथ अपने कुछ छात्र-छात्राओं को वेदान्त सोसायटी में ले आते थे तथा बाद में इनलोगों ने महाराज को कई प्रकार से सहायता की थी।

१९५२ ई. में महाराज ने वेदान्त सोसायटी के लिए एक मकान खरीदने का प्रयास किया, किन्तु उनका शरीर का रंग सफेद नहीं होने के कारण विक्रेता ने उनको घर नहीं दिया। तदुपरान्त वर्तमान आश्रम का घर स्मिथ और उनकी पत्नी के नाम से खरीदा गया तथा बाद में उन्होंने वह मकान वेदान्त सोसायटी के नाम से स्थानान्तरित कर दिया।

१९५५ ई. में महाराज बर्फ के ऊपर गिर गये तथा रीढ़ की हड्डी दो-एक जगह टूट गई। तत्पश्चात् अस्पताल में ऑपरेशन के समय एक नाड़ी के खराब हो जाने से उनके पैर की संवेदना चली गयी। शल्य चिकित्सक अपने समर्थानुसार जो कर सकते थे, उन्होंने किया। उन्होंने इसके लिए कोई रुपया लेने से मना किया। शल्य चिकित्सक ने महाराज को कई महीने खाली पैर बालू पर चलने के लिए परामर्श दिया। महाराज तब बॉस्टन के मार्क्सफिल्ड retreat के पास अटलांटिक Hamrock Beach पर दो समय चलते थे। स्वामी अखिलानन्द जी ने सब व्यवस्था की। जो भी हो, पैरों में कुछ संवेदना तो वापस आ गयी, किन्तु उनको संतुलन की समस्या रह गयी। यह सब रहने पर भी वे १९५६ ई. में भारत गये। अमेरिका के ४३ वर्ष के सुदीर्घ कार्यकाल में वे केवल इस समय ही भारत गये थे।

सेन्ट लुइस ग्रीष्म में बहुत गरम तथा ठण्ड में बहुत ठण्डा रहता है। महाराज ने मुझसे कहा था, ''ए.सी. के लिए पैसा नहीं था, इसीलिए मैं ग्रीष्म में बॉस्टन तथा कैलिफोंनिया केन्द्र सेन्टर जाता था। क्रमश: मैंने कुछ पैसे जुगाड़ किये तथा ए.सी लगाया। तब पुस्तक लिखने का कार्य आरम्भ किया।'' उन्होंने वेदान्त तथा ठाकुर-स्वामीजी पर बहुत-से मूल्यवान ग्रन्थ लिखे हैं।

१९७६ ई. में प्रभवानन्द महाराज का शरीर जाने के बाद मैं सेन्ट लुइस में महाराज से भेंट करने गया। जीवन के अन्तिम चार-पाँच वर्ष सत्प्रकाशानन्दजी प्राय: शय्याशायी थे। फिर भी उनकी स्मृति तथा आवाज स्पष्ट थी। मैंने उनके साथ विभिन्न विषयों पर प्राय: दो घण्टे तक साक्षात्कार किया, जो टेप में रिकॉड किया हुआ है। उन्होंने मुझसे प्रभवानन्द जी महाराज की मृत्यु तथा उनकी memorial service का विवरण सुनकर कहा, ''चेतनानन्द, मेरे यहाँ तो कोई नहीं है ! मेरी मृत्यु के समय क्या तुम आ सकते हो?'' मैंने कहा, ''महाराज, यहाँ से फोन आने पर मैं चार-पाँच घण्टे के भीतर हॉलीवुड से आ जाऊँगा। आप कोई चिन्ता मत कीजिए।'' यह सुनकर वे बहुत आनन्दित हुए।

स्वामी सत्प्रकाशानन्द जी महाराज एक सच्चे संन्यासी थे। जप-ध्यान, शास्त्र-अध्ययन तथा अध्यापन में वे डूबे रहते थे। मैंने उनके मुख से किसी भी दिन परनिन्दा-परचर्चा नहीं सुनी।

१९७७ ई. में जुलाई में मैं तीन-चार महीने के लिए भारत गया; तदनन्तर वापस आकर सुना कि मुझे सेन्ट लुइस में स्थानान्तरित करने की व्यवस्था हो रही है। बेलूड़ मठ के आदेश से १ मार्च, १९७८ ई. को मैं सेन्ट लुइस गया। स्वामी सत्प्रकाशानन्द जी बहुत आनन्दित हुए। उन्होंने मेरे हाथ में मन्दिर में रखी हुई अस्थियों की चाभी देकर कहा, ''देखो, उस छोटे चन्दन की लकड़ी के डिब्बे में ठाकुर, श्रीमाँ, स्वामीजी, महाराज, महापुरुष महाराज तथा बाबूराम महाराज की अस्थियाँ हैं। तुम प्रतिदिन प्रात: गंगाजल और सुगन्धि से पूजा-अर्चना करना; तदनन्तर जप-ध्यान करना तथा प्रार्थना के बाद फल-मिष्ठान्न निवेदित करना। मैं ९० वर्ष का वृद्ध हूँ। मैं चल-फिर नहीं सकता और न ही वक्तृता दे सकता हूँ। तुम यहाँ के भक्तों के लिए वेदान्त, ठाकुर-श्रीमाँ-स्वामीजी के ऊपर कक्षा लो। बस ! महाराज ने इसी प्रकार सेन्ट लुइस केन्द्र का भार मुझे दिया। ठाकुर की अच्छी तरह देखभाल करना और उनके भक्तों की सेवा करना। मेरे ऊपर दायित्व देकर उन्होंने स्वयं को सम्पूर्ण रूप से मुक्त कर लिया। तदुपरान्त वे एक वर्ष नौ महीने इस धराधाम में थे। उन्होंने किसी भी दिन कार्य के सम्बन्ध में मुझसे कुछ भी नहीं पूछा। उनका मेरे ऊपर अगाध विश्वास देखकर मैं अवाक् हो गया। महाराज ने मुझसे जो कहा था, विगत चालीस वर्षों (१९७८-२०१८) से मैं उसका पालन करता आ रहा हूँ।

मैंने सेन्ट लुइस जाकर देखा कि महाराज ने स्वयं को गृहबन्दी जैसा करके रखा है। बहुत समय तक वे बिस्तर पर ही सोये रहते थे। उनके कमरे का द्वार बन्द रहता था; बगल के बाथरूम के दरवाजे से उनके कमरे में जाया जाता

था। रॉबर्ट बर्निंगर ने जिस प्रकार अपने गुरु की सेवा की थी, उस प्रकार की सेवा मैंने जीवन में कभी भी नहीं देखी। वह वाशिंगटन विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में कार्य करता था तथा बाकी समय गुरु-सेवा करता था। वह महाराज के शरीर में Nevea oil या cream लगाकर मालिश करता था; तदुपरान्त गरम जल में तौलिया को भिंगोकर शरीर पोछता था। यही उनका स्नान था, परन्तु उनके शरीर से या बिस्तर से कोई दुर्गन्ध नहीं आती थी। बोब महाराज को प्रात: और सन्ध्या को भोजन कराता था। महाराज को दोपहर का भोजन भक्तगण उनके कमरे में खिलाते थे। उनका आहार बहुत सरल और स्वल्प था। वे दिन में चार ग्लास मिश्री का जल पीते थे तथा दो ग्लास दूध दो चम्मच गुड़ मिलाकर पीते थे। इतने पर भी उनको मधुमेह नहीं हुआ था।

प्रतिदिन सन्ध्या के पूर्व मैं उनको देखने जाया करता था। महाराज बिस्तर के ऊपर बैठकर रवीन्द्र भट्टाचार्य द्वारा गाया 'खण्डन भव बन्धन' आरात्रिक सुनते थे। महाराज छोटे बच्चे जैसा सिर झुकाकर ताली बजाते थे। तदुपरान्त संक्षेप में बात करते हुए वे कहते, ''चेतनानन्द, मैं अभी जप करूँगा। तुम अभी मुझे अकेला छोड़ दो।'' वे उस समय राजा महाराज द्वारा दी हुयी जपमाला हाथ में लेकर, करवट के बल सोकर जप-ध्यान करते। तीन-चार घण्टा जप-ध्यान करना उनके लिए कोई कष्टकर बात नहीं थी। इन वरिष्ठ संन्यासियों की निष्ठा तथा भक्ति हमारे लिए अनुकरणीय है।

जब मैंने सेन्ट लुइस में व्याख्यान देना आरम्भ किया, तब महाराज से कहा, ''आपको रविवार के दिन भक्तों को दर्शन देना होगा। आप उनके गुरु हैं।'' महाराज ने कहा, ''मैं अभी वृद्ध हो गया हूँ।'' मैंने कहा, ''महाराज, मरा हुआ हाथी लाख रुपये का होता है। बोब आपको पहियेदार कुर्सी में बैठाकर बैठकखाना में ले जायेगा। वहाँ आप भक्तों के साथ वार्तालाप करेंगे। उनलोगों को इससे बहुत आनन्द होगा।'' महाराज ने मेरा यह अनुरोध स्वीकार किया तथा सभी आनन्दित हुए। जीवन के अन्तिम दिनों तक वे सप्ताह में एक दिन भक्तों को दर्शन देते थे तथा उनके प्रश्नों का उत्तर दिया करते थे। महाराज के सेन्ट लुइस के मिनिस्टर के रूप में चालीस वर्ष पूर्ति के उपलक्ष्य में हमलोगों ने एक उत्सव किया तथा उनकी स्मृतियों पर एक फिल्म बनायी। इसके बाद ही महाराज की पुस्तक Vivekananda's Contribution to the Present Age प्रकाशित हुई। बिस्तर पर ही बैठे हुए उन्होंने पुस्तक की एक प्रति अपने हाथ में ली और कहा, ''मेरा कार्य समाप्त हुआ।'' इतना कहकर वे एक बालक की तरह ताली बजाने लगे।

मृत्यु के कई सप्ताह पहले महाराज ने मुझसे कहा, ''चेतनानन्द, जीवन्मुक्त पुरुष की मृत्यु कैसे होती है, वेदान्त आदि ग्रन्थों में क्या लिखा हुआ है, मुझे पढ़कर सुना सकते हो क्या?'' मैंने उपनिषद्, गीता, विवेकचूडामणि, ब्रह्मसूत्र इत्यादि ग्रन्थों में ज्ञानी के देहत्याग का जैसा वर्णन किया गया है, वह सब कॉपी करके महाराज को सुनाया। वे बिस्तर पर बैठे हुए ये सब एकाग्रचित्त होकर सुनते थे।

राजा महाराज के कृपाप्राप्त इन महान संन्यासी को मृत्युयन्त्रणा नहीं हुई। उनको केवल थोड़ा-सा त्वचा रोग की समस्या हुई, बस और कुछ नहीं। प्रात:काल नाश्ते के पश्चात् मैं अपने कमरे में अध्ययन कर रहा था। अकस्मात् बोब ने आकर कहा, ''स्वामीजी, आप अविलम्ब चलिए, महाराज का स्वास्थ्य अच्छा नहीं है।'' मैं अविलम्ब उनके कमरे में गया। नाश्ता करते समय अकस्मात् उनका मुँह थोड़ा-सा टेढ़ा हो गया। थोड़ी देर बाद मुँह पुन: सामान्य हो गया। हमने महाराज के चिकित्सक को संदेशा भेजा। चिकित्सक ने दोपहर में आश्रम में आकर महाराज का परीक्षण किया और कहा, ''महाराज का हृदय अच्छी तरह से पम्प नहीं कर रहा है। पानी जम गया है।'' दोनों पैर भी थोड़ा-सा सूज गया था। पूरे दिन उनको थोड़ी तन्द्रा जैसे ही थी। सन्ध्या समय मैंने कहा, ''महाराज, आपने पूरा दिन कुछ नहीं खाया, थोड़ा-सा फल का रस पी लीजिए?'' उन्होंने उत्तर में कहा, ''नहीं, वमन हो जायेगा।''

रात्रि के १० बजे महाराज की शिष्या डॉक्टर नीलिमा घोष आयी। मैंने उनको महाराज को कुछ खिलाने के लिए कहा। वह बहुत प्रयास करके महाराज को थोड़ा-सा संतरा का रस पिला पायी। कमरे में दो महिलायें आपस में बातचीत कर रही थीं, महाराज ने उनको चुप रहने के लिए कहा। महाराज के कमरे में हमलोगों ने चौबिसों घण्टे रहने का निश्चय किया। बोब की रात्रि ९-१२ बजे तक, टोम की १२-३ बजे तक और मेरी ३-६ बजे तक सेवा थी। २५ नवम्बर, १९७९ रात्रि के ४ बजे महाराज ने थोड़ा-सा वमन किया, उसके बाद ही देखा कि शरीर स्थिर हो गया। कोई कष्ट नहीं हुआ।

तत्पश्चात् हमलोग अमेरिका के नौ केन्द्र के प्रमुख साधु तथा हस्टन स्मिथ ने मिलकर बृहत् रूप से स्मृति सभा का आयोजन किया। उस सभा में अनेक भक्तगण आये थे। इन महान संन्यासी का प्रेम तथा आशीर्वाद पाकर मैं धन्य हो गया हूँ। **(क्रमश:)**

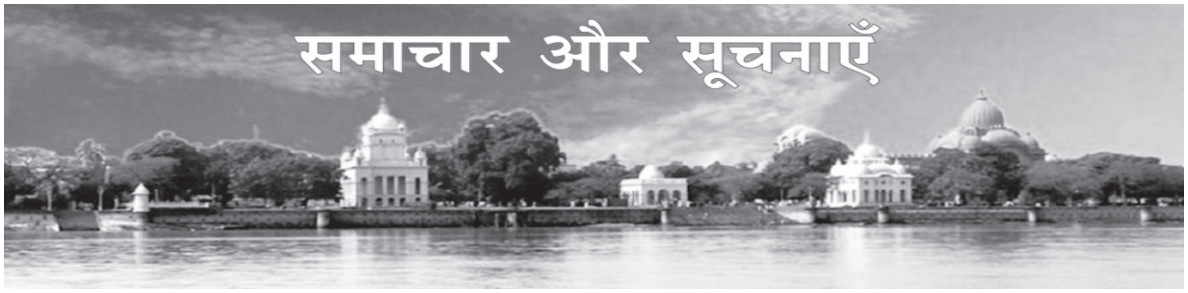

दो मन्दिरों का शताब्दी महोत्सव मनाया गया

रामकृष्ण मठ, बेलूड़ मठ में १३ और १४ मार्च, २०२४ को बेलूड़ स्थित **स्वामी ब्रह्मानन्द मन्दिर** का शताब्दी-महोत्सव

मनाया गया, जिसमें विशेष पूजा, संगीत-कार्यक्रम और दो सार्वजनिक सभायें हुईं। प्रथम दिवस की सभा की अध्यक्षता सह-संघाध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी सुहितानन्द जी महाराज ने और द्वितीय दिवस की सभा की अध्यक्षता पूज्यपाद स्वामी भजनानन्द जी महाराज ने की।

१५ मार्च, २०२४ को बेलूड़ स्थित **स्वामी विवेकानन्द मन्दिर** का शताब्दी महोत्सव मनाया गया। इस उपलक्ष्य में विशेष पूजा, वैदिक पाठ और सांस्कृतिक कार्यक्रम हुये। अपराह्न में सार्वजनिक सभा का आयोजन हुआ, जिसकी अध्यक्षता पूज्यपाद स्वामी गिरीशानन्द जी महाराज ने की।

१६ मार्च, २०२४ को बेलूड़ में **स्वामी सुबोधानन्द मेमोरियल** का उद्घाटन रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी गौतमानन्द जी महाराज ने किया।

१७ मार्च, २०२४ रविवार को **बेलूड़ मठ में** श्रीरामकृष्ण जयन्ती के उपलक्ष्य में **वार्षिक सार्वजनिक महोत्सव** का आयोजन किया गया, जिसमें प्रवचन, सांस्कृतिक कार्यक्रम और मेला आयोजित हुई। इस दिन लाखों लोगों ने बेलूड़ मठ का परिदर्शन किया। ४५,००० हजार भक्तों और दर्शनार्थियों को खिचड़ी प्रसाद दिया गया।

२१ फरवरी, २०२४ को **रामकृष्ण मिशन, गुरुग्राम** में आदर्शोन्मुखी शिक्षा पर दिल्ली में एक संगोष्ठी आयोजित की गई, जिसमें २५० प्राचार्यों ने भाग लिया।

५ और ७ मार्च को **रामकृष्ण मिशन, मोराबादी, राँची** द्वारा झारखण्ड के दो ग्रामीण क्षेत्रों में युवा-जागरण कार्यक्रम किये गये, जिसमें ५६५ युवकों ने भाग लिया।

१३ अप्रैल, २०२४ को **रामकृष्ण मिशन आश्रम, कानपुर** में युवा सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें स्वामी आत्मश्रद्धानन्द और स्वामी नित्यज्ञानानन्द जी महाराज ने बच्चों को सम्बोधित किया। कुल २०० युवकों ने भाग लिया।

विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर में १६ अप्रैल, २०२४ को श्रीरामनवमी की पूर्व सन्ध्या पर श्रीराम पर एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया, जिसमें डॉ. ओमप्रकाश वर्मा और चितरंजन कर ने तुलसी और निराला की दृष्टि में श्रीराम पर व्याख्यान दिये और स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने अध्यक्षता की।

स्वामी विवेकानन्द की प्रतिमा का अनावरण

बीसीसीएल धनबाद द्वारा कोयलानगर कालोनी में एक चौक पर स्वामी विवेकानन्द जी की मूर्ति स्थापित की गई, जिसका अनावरण रामकृष्ण मिशन आश्रम, मुजफ्फरपुर के स्वामी व्रजेश्वरानन्द जी महाराज, सांसद पी.एन.सिंह ने किया। इस अवसर पर बीसीसीएल के सीएमडी श्री समीरन दत्ता और धनबाद के विधायक राज सिन्हा भी उपस्थित थे। इस कार्यक्रम में ३५० लोगों ने भाग लिया। कार्यक्रम को सफल बनाने में रामकृष्ण विवेकानन्द स्वाध्याय सेवा ट्रस्ट के सदस्यों का बड़ा योगदान रहा।

रामकृष्ण विवेकानन्द स्वाध्याय सेवा ट्रस्ट, धनबाद के नये भवन का शिलान्यास रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर के स्वामी ब्रह्मस्वरूपानन्द जी महाराज और बीसीसीएल के सी.एम. श्री समीरन दत्ता ने किया। इस अवसर पर संस्था के सचिव बिकेश कुमार सिंह और अन्य पदाधिकारी सहित ५०० लोग उपस्थित थे।

योगोत्सव का आयोजन

४ अप्रैल, २०२४ को रामकृष्ण विवेकानन्द स्वाध्याय सेवा ट्रस्ट, धनबाद द्वारा रामकृष्ण मिशन आश्रम, राँची के निर्देशानुसार योगोत्सव का आयोजन किया गया, जिसमें ५० लोगों ने भाग लिया।